माटी की मूरतें

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

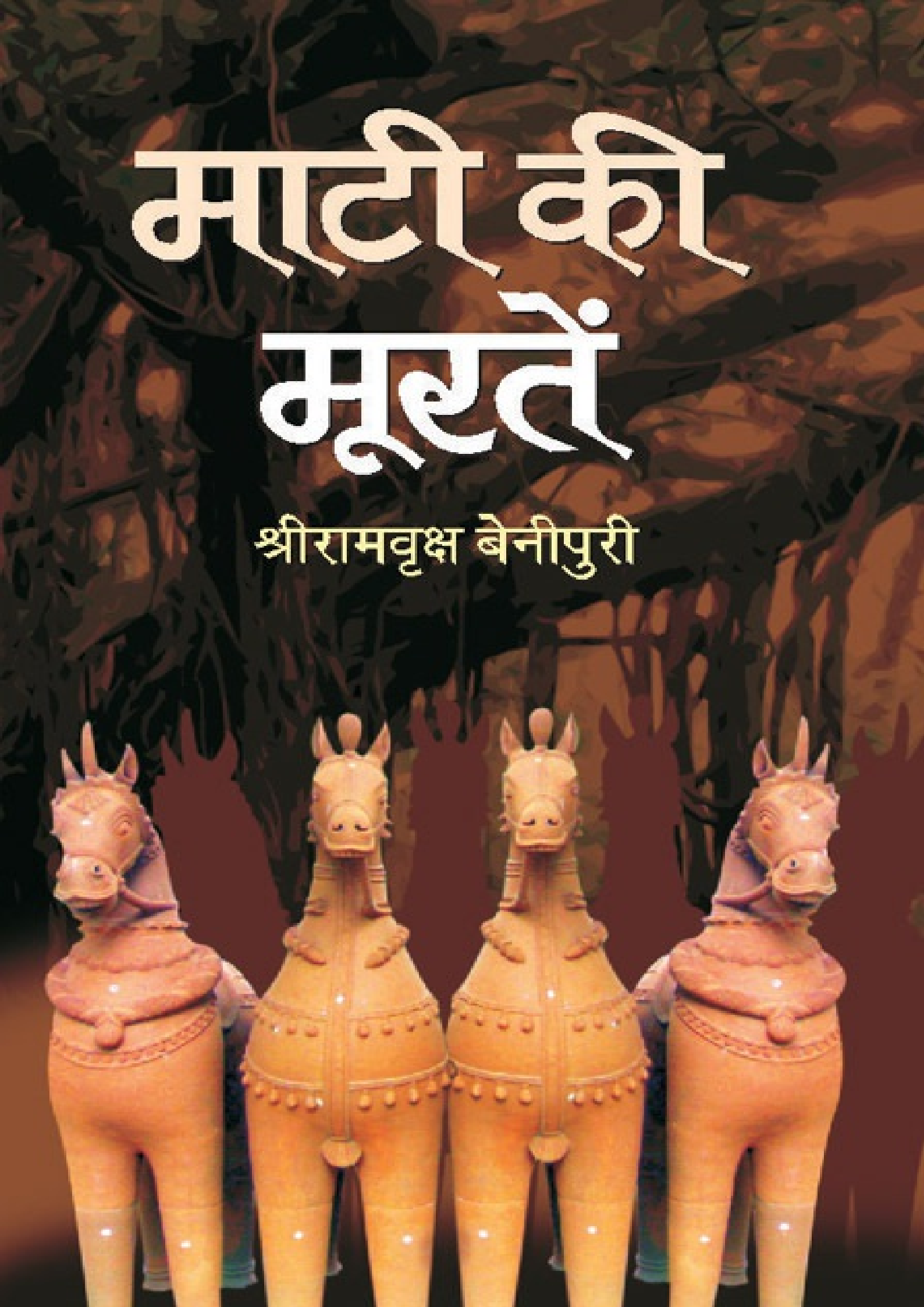

माटी की मूरतें

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

नवीन संस्करण

यह 'माटी की मूरतें' सोने की मूरतें सिद्ध हुईं। छह साल में इसकी ६० हजार प्रतियाँ बिक चुकीं। इस नवीन संस्करण में एक मूरत और जोड़ दी गई है—रजिया। क्रम में भी कुछ परिवर्तन किया गया है और पाठ में भी। इसे आदि से अंत तक सचित्र भी कर दिया गया है। क्या मैं आशा करूँ, इस नए रूप में यह और भी पसंद की जाएगी?

गंगा दशहरा, १९५३

— श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

ये माटी की मूरतें

जब कभी आप गाँव की ओर निकले होंगे, आपने देखा होगा, किसी बड़ या पीपल के पेड़ के नीचे, चबूतरे पर कुछ मूरतें रखी हैं—माटी की मूरतें!

ये मूरतें—न इनमें कोई खूबसूरती है, न रंगीनी। फलत: बौद्ध या ग्रीक रोमन मूर्तियों के हम शैदाई यदि उनमें कोई दिलचस्पी न लें, उन्हें देखते ही मुँह मोड़ लें, नाक सिकोड़ लें तो अचरज की कौन सी बात?

किंतु इन कुरूप, बदशकल मूरतों में भी एक चीज है, शायद उस ओर हमारा ध्यान नहीं गया, वह है जिंदगी! ये माटी की बनी हैं, माटी पर धरी हैं; इसीलिए जिंदगी के नजदीक हैं, जिंदगी से सराबोर हैं। ये देखती हैं, सुनती हैं, खुश होती हैं; शाप देती हैं, आशीर्वाद देती हैं।

ये मूरतें न तो किसी आसमानी देवता की होती हैं, न अवतारी देवता की। गाँव के ही किसी साधारण व्यक्ति—मिट्टी के पुतले—ने किसी असाधारण-अलौकिक धर्म के कारण एक दिन देवत्व प्राप्त कर लिया, देवता में गिना जाने लगा और गाँव के व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दु:ख का द्रष्टा-स्रष्टा बन गया।

मिट्टी के उन पुतलों की ये माटी की मूरतें! हाँ, ये देखती हैं, सुनती हैं; खुश होती हैं, नाराज होती हैं। खुश हुईं—संतान मिली, अच्छी फसल मिली, यात्रा में सुख मिला, मुकदमे में जीत मिली। इनकी नाराजगी—बीमार पड़ गए, महामारी फैली, फसल पर ओले गिरे, घर में आग लग गई।

ये जिंदगी के नजदीक ही नहीं हैं, जिंदगी में समाई हुई हैं। इसलिए जिंदगी के हर पुजारी का सिर इनके नजदीक आप-ही-आप झुका है। बौद्ध और ग्रीक-रोमन मूतियाँ दर्शनीय हैं, वंदनीय हैं; तो माटी की ये मूरतें भी उपेक्षणीय नहीं, आपसे हमारा निवेदन सिर्फ इतना है।

❑

आपने राजा-रानी की कहानियाँ पढ़ी हैं, ऋषि-मुनि की कथाएँ बाँची हैं, नायकों और नेताओं की जीवनियों का अध्ययन किया है। वे कहानियाँ, वे कथाएँ, वे जीवनियाँ! कैसी मनोरंजक, कैसी प्रोज्ज्वल, कैसी उत्साहवर्द्धक! हमें दिन-दिन उनका अध्ययन, मनन, अनुशीलन करना ही चाहिए।

किंतु, क्या आपने कभी सोचा है, आपके गाँवों में भी कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी कहानियाँ, कथाएँ और जीवनियाँ राजा-रानियों, ऋषि-मुनियों, नायकों-नेताओं की कहानियों, कथाओं और जीवनियों से कम मनोरंजक, प्रोज्ज्वल और उत्साहवर्द्धक नहीं। किंतु शकुंतला, वसिष्ट, शिवाजी और नेताजी पर मरनेवाले हम अपने गाँव की बुधिया, बालगोबिन भगत, बलदेव सिंह और देव की ओर देखने की भी फुरसत कहाँ पाते हैं?

हजारीबाग सेंट्रल जेल के एकांत जीवन में अचानक मेरे गाँव और मेरे ननिहाल के कुछ ऐसे लोगों की मूरतें मेरी आँखों के सामने आकर नाचने और मेरी कलम से चित्रण की याचना करने लगीं। उनकी इस याचना में कुछ ऐसा जोर था कि अंतत: यह 'माटी की मूरतें' तैयार होकर रही। हाँ, जेल में रहने के कारण बैजू मामा भी इनकी पाँत में आ बैठे और अपनी मूरत मुझसे गढ़वा ही ली।

मैं साफ कह दूँ, ये कहानियाँ नहीं, जीवनियाँ हैं! ये चलते-फिरते आदमियों के शब्दचित्र हैं। मानता हूँ, कला ने उनपर पच्चीकारी की है; किंतु मैंने ऐसा नहीं होने दिया कि रंग-रंग में मूल रेखाएँ ही गायब हो जाएँ। मैं उसे अच्छा रसोइया नहीं समझता, जो इतना मसाला रख दे कि सब्जी का मूल स्वाद ही नष्ट हो जाए।

कला का काम जीवन को छिपाना नहीं, उसे उभारना है। कला वह, जिसे पाकर जिंदगी निखर उठे, चमक उठे।

डरता था, सोने-चाँदी के इस युग में मेरी ये 'माटी की मूरतें' कैसी पूजा पाती हैं! किंतु, इधर इनमें से कुछ जो प्रकाश में आईं, हिंदी-संसार ने उन्हें सिर-आँखों पर लिया। यह मेरी कलम या कला की करामात नहीं, मानवता के मन में मिट्टी के प्रति जो स्वाभाविक स्नेह है, उसका परिणाम है। उस स्नेह के प्रति मैं बार-बार सिर झुकाता

हूँ और कामना करता हूँ, कुछ और ऐसी 'माटी की मूरतें' हिंदी-संसार की सेवा में उपस्थित करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकूँ।
दीवाली, १९४६

— श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

रजिया

कानों में चाँदी की बालियाँ, गले में चाँदी का हैकल, हाथों में चाँदी के कंगन और पैरों में चाँदी की गोड़ाँई—भरबाँह की बूटेदार कमीज पहने, काली साड़ी के छोर को गले में लपेटे, गोरे चेहरे पर लटकते हुए कुछ बालों को सँभालने में परेशान वह छोटी सी लड़की, जो उस दिन मेरे सामने आकर खड़ी हो गई थी—अपने बचपन की उस रजिया की स्मृति ताजा हो उठी, जब मैं अभी उस दिन अचानक उसके गाँव में जा पहुँचा।

हाँ, यह मेरे बचपन की बात है। मैं कसाईखाने से रस्सी तुड़ाकर भागे हुए बछड़े की तरह उछलता हुआ अभी-अभी स्कूल से आया था और बरामदे की चौकी पर अपना बस्ता-सिलेट पटककर मौसी से छठ में पके ठेकुए लेकर उसे कुतर-कुतरकर खाता हुआ ढेंकी पर झूला झूलने का मजा पूरा करना चाह रहा था कि उधर से आवाज आई—'देखना, बबुआ का खाना मत छू देना।' और, उसी आवाज के साथ मैंने देखा, यह अजीब रूप-रंग की लड़की मुझसे दो-तीन गज आगे खड़ी हो गई।

मेरे लिए यह रूप-रंग सचमुच अजीब था। ठेठ हिंदुओं की बस्ती है मेरी और मुझे मेले-पेठिए में भी अधिक नहीं जाने दिया जाता। क्योंकि सुना है, बचपन में मैं एक मेले में खो गया था। मुझे कोई औघड़ लिये जा रहा था कि गाँव की एक लड़की की नजर पड़ी और मेरा उद्धार हुआ। मैं बाप-माँ का इकलौता—माँ चल बसी थीं। इसलिए उनकी इस एकमात्र धरोहर को मौसी आँखों में जुगोकर रखतीं। मेरे गाँव में भी लड़कियों की कमी नहीं; किंतु न उनकी यह वेश-भूषा, न यह रूप-रंग! मेरे गाँव की लड़कियाँ कानों में बालियाँ कहाँ डालतीं और भरबाँह की कमीज पहने भी उन्हें कभी नहीं देखा। और, गोरे चेहरे तो मिले हैं, किंतु इसकी आँखों में जो एक अजीब किस्म का नीलापन दीखता, वह कहाँ? और, समूचे चेहरे की काट भी कुछ निराली जरूर—तभी तो मैं उसे एकटक घूरने लगा।

यह बोली थी रजिया की माँ, जिसे प्राय: ही अपने गाँव में चूडियों की खँचिया लेकर आते देखता आया था। वह मेरे आँगन में चूडियों का बाजार पसारकर बैठी थी और कितनी बहू-बेटियाँ उसे घेरे हुई थीं। मुँह से भाव-साव करती और हाथ से खरीदारिनों के हाथ में चूडियाँ चढ़ाती वह सौदे पटाए जा रही थी। अब तक उसे अकेले ही आते-जाते देखा था; हाँ, कभी-कभी उसके पीछे कोई मर्द होता, जो चूडियों की खाँची ढोता। यह बच्ची आज पहली बार आई थी और न जाने किस बाल-सुलभ उत्सुकता ने उसे मेरी ओर खींच लिया था। शायद वह यह भी नहीं जानती थी कि किसी के हाथ का खाना किसी के निकट पहुँचने से ही छू जाता है। माँ जब अचानक चीख उठी, वह ठिठकी, सहमी—उसके पैर तो वहीं बँध गए। किंतु इस ठिठक ने उसे मेरे बहुत निकट ला दिया, इसमें संदेह नहीं।

मेरी मौसी झट उठीं, घर में गईं और दो ठेकुए और एक कसार लेकर उसके हाथों में रख दिए। वह लेती नहीं थी, किंतु अपनी माँ के आग्रह पर हाथ में रख तो लिया, किंतु मुँह से नहीं लगाया! मैंने कहा—खाओ न! क्या तुम्हारे घरों में ये सब नहीं बनते?छठ का व्रत नहीं होता? कितने प्रश्न—किंतु सबका जवाब 'न' में ही और वह भी मुँह से नहीं, जरा सा गरदन हिलाकर। और, गरदन हिलाते ही चेहरे पर गिरे बाल की जो लटें हिल-हिल उठतीं, वह उन्हें परेशानी से सँभालने लगती।

जब उसकी माँ नई खरीदारिनों की तलाश में मेरे आँगन से चली, रजिया भी उसके पीछे हो ली। मैं खाकर, मुँह धोकर अब उसके निकट था और जब वह चली, जैसे उसकी डोर में बँधा थोड़ी दूर तक घिसटता गया। शायद मेरी भावुकता देखकर ही चूड़ीहारिनों के मुँह पर खेलनेवाली अजस्र हँसी और चुहल में ही उसकी माँ बोली—बबुआजी, रजिया से ब्याह कीजिएगा? फिर बेटी की ओर मुखातिब होती मुसकराहट में कहा—क्यों रे रजिया, यह दुलहा तुम्हें पसंद है?उसका यह कहना, कि मैं मुड़कर भागा। ब्याह?एक मुसलमानिन से? अब रजिया की माँ ठठा रही थी और रजिया सिमटकर उसके पैरों में लिपटी थी, कुछ दूर निकल जाने पर मैंने

मुड़कर देखा।

❑

रजिया, चूड़ीहारिन! वह इसी गाँव की रहनेवाली थी। बचपन में इसी गाँव में रही और जवानी में भी। क्योंकि मुसलमानों की गाँव में भी शादी हो जाती है न! और, यह अच्छा हुआ—क्योंकि बहुत दिनों तक प्राय: उससे अपने गाँव में ही भेंट हो जाया करती थी।

मैं पढ़ते-पढ़ते बढ़ता गया। पढ़ने के लिए शहरों में जाना पड़ा। छुट्टियों में जब-तब आता। इधर रजिया पढ़ तो नहीं सकी, हाँ, बढ़ने में मुझसे पीछे नहीं रही। कुछ दिनों तक अपनी माँ के पीछे-पीछे घूमती फिरी। अभी उसके सिर पर चूडियों की खँचिया तो नहीं पड़ी, किंतु, खरीदारिनों के हाथों में चूडियाँ पहनाने की कला वह जान गई थी। उसके हाथ मुलायम थे, बहुत मुलायम, नई बहुओं की यही राय थी। वे उसी के हाथ से चूडियाँ पहनना पसंद करतीं। उसकी माँ इससे प्रसन्न ही हुई—जब तक रजिया चूडियाँ पहनाती, वह नई-नई खरीदारिनें फँसाती।

रजिया बढ़ती गई। जब-जब भेंट होती, मैं पाता, उसके शरीर में नए-नए विकास हो रहे हैं; शरीर में और स्वभाव में भी। पहली भेंट के बाद पाया था, वह कुछ प्रगल्भ हो गई है। मुझे देखते ही दौड़कर निकट आ जाती, प्रश्न-पर-प्रश्न पूछती। अजीब अटपटे प्रश्न! देखिए तो, ये नई बालियाँ आपको पसंद हैं?क्या शहरों में ऐसी ही बालियाँ पहनी जाती हैं?मेरी माँ शहर से चूडियाँ लाती है, मैंने कहा है, वह इस बार मुझे भी ले चले। आप किस तरफ रहते हैं वहाँ?क्या भेंट हो सकेगी? वह बके जाती, मैं सुनता जाता! शायद जवाब की जरूरत वह भी नहीं महसूस करती।

फिर कुछ दिनों के बाद पाया, वह अब कुछ सकुचा रही है। मेरे निकट आने के पहले वह इधर-उधर देखती और जब कुछ बातें करती तो ऐसी चौकन्नी-सी कि कोई देख न ले, सुन न ले। एक दिन जब वह इसी तरह बातें कर रही थी कि मेरी भौजी ने कहा—देखियो री रजिया, बबुआजी को फु सला नहीं लीजियो। वह उनकी ओर देखकर हँस तो पड़ी, किंतु मैंने पाया, उसके दोनों गाल लाल हो गए हैं और उन नीली आँखों के कोने मुझे सजल-से लगे। मैंने तब से ध्यान दिया, जब हम लोग कहीं मिलते हैं, बहुत सी आँखें हम पर भालों की नोक ताने रहती हैं।

रजिया बढ़ती गई, बच्ची से किशोरी हुई और अब जवानी के फूल उसके शरीर पर खिलने लगे हैं। अब भी वह माँ के साथ ही आती है; किंतु पहले वह माँ की एक छाया मात्र लगती थी, अब उसका स्वतंत्र अस्तित्व है और उसकी छाया बनने के लिए कितनों के दिलों में कसमसाहट है। जब वह बहनों को चूडियाँ पहनाती होती है, कितने भाई तमाशा देखने को वहाँ एकत्र हो जाते हैं। क्यों? बहनों के प्रति भ्रातृभाव या रजिया के प्रति अज्ञात आकर्षण उन्हें खींच लाता है?जब वह बहुओं के हाथों में चूडियाँ ठेलती होती है, पतिदेव दूर खड़े कनखियों से देखते रहते हैं—क्या? अपनी नवोढ़ा की कोमल कलाइयों पर क्रीड़ा करती हुई रजिया की पतली उँगलियों को! और, रजिया को इसमें रस मिलता है। पतियों से चुहलें करने से भी वह बाज नहीं आती—बाबू, बड़ी महीन चूडियाँ हैं! जरा देखिएगा, कहीं चटक न जाएँ! पतिदेव भागते हैं, बहुएँ खिलखिलाती हैं! रजिया ठट्ठा लगाती है। अब वह अपने पेशे में निपुण होती जाती है।

हाँ, रजिया अपने पेशे में भी निपुण होती जाती थी। चूड़ीहारिन के पेशे के लिए सिर्फ यही नहीं चाहिए कि उसके पास रंग-बिरंगी चूडियाँ हों—सस्ती, टिकाऊ, टटके-से-टटके फैशन की। बल्कि यह पेशा चूडियों के साथ चूड़ीहारिनों में बनाव-शृंगार, रूप-रंग, नाजोअदा भी खोजता है, जो चूड़ी पहननेवालियों को ही नहीं, उनको भी मोह सके, जिनकी जेब से चूडियों के लिए पैसे निकलते हैं। सफल चूड़ीहारिन यह रजिया की माँ भी किसी जमाने में क्या कुछ कम रही होगी! खँडहर कहता है, इमारत शानदार थी!

ज्यों-ज्यों शहर में रहना बढ़ता गया, रजिया से भेंट भी दुर्लभ होती गई। और, एक दिन वह भी आया, जब

बहुत दिनों पर उसे अपने गाँव में देखा। पाया, उसके पीछे एक नौजवान चूडियों की खाँची सिर पर लिये है। मुझे देखते ही वह सहमी, सिकुड़ी और मैंने मान लिया, यह उसका पति है। किंतु तो भी अनजान-सा पूछ ही लिया—इस जमूरे को कहाँ से उठा लाई है रे? इसी से पूछिए, साथ लग गया तो क्या करूँ? नौजवान मुसकराया, रजिया बिहँसी, बोली—यह मेरा खाबिंद है, मालिक!

खाबिंद! बचपन की उस पहली मुलाकात में उसकी माँ ने दिल्लगी-दिल्लगी में जो कह दिया था, न जाने, वह बात कहाँ सोई पड़ी थी! अचानक वह जगी और मेरी पेशानी पर उस दिन शिकन जरूर उठ आए होंगे, मेरा विश्वास है। और, एक दिन वह भी आया कि मैं भी खाबिंद बना! मेरी रानी को सुहाग की चूडियाँ पहनाने उस दिन यही रजिया आई, और उस दिन मेरे आँगन में कितनी धूम मचाई इस नटखट ने! यह लूँगी, वह लूँगी और ये मुँहमाँगी चीजें नहीं मिलीं तो वह लूँगी कि दुलहन टापती रह जाएँगी! हट-हट, तू बबुआजी को ले जाएगी तो फिर तुम्हारा यह हसन क्या करेगा? भौजी ने कहा। यह भी टापता रहेगा बहुरिया, कहकर रजिया ठट्ठा मारकर हँसी और दौड़कर हसन से लिपट गई। ओहो, मेरे राजा, कुछ दूसरा न समझना! हसन भी हँस पड़ा। रजिया अपनी प्रेमकथा सुनाने लगी। किस तरह यह हसन उसके पीछे पड़ा, किस तरह झंझटें आईं, फिर किस तरह शादी हुई और वह आज भी किस तरह छाया-सा उसके पीछे घूमता है। न जाने कौन सा डर लगा रहता है इसे? और फिर, मेरी रानी की कलाई पकड़कर बोली—मालिक भी तुम्हारे पीछे इसी तरह छाया की तरह डोलते रहें, दुलहन! सारा आँगन हँसी से भर गया था। और, उस हँसी में रजिया के कानों की बालियों ने अजीब चमक भर दी थी, मुझे ऐसा ही लगा था।

❑

जीवन का रथ खुरदरे पथ पर बढ़ता गया। मेरा भी, रजिया का भी। इसका पता उस दिन चला, जब बहुत दिनों पर उससे अचानक पटना में भेंट हो गई। यह अचानक भेंट तो थी; किंतु क्या इसे भेंट कहा जाए?

मैं अब ज्यादातर घर से दूर-दूर ही रहता। कभी एकाध दिन के लिए घर गया तो शाम को गया, सुबह भागा। तरह-तरह की जिम्मेदारियाँ, तरह-तरह के जंजाल! इन दिनों पटना में था, यों कहिए, पटना सिटी में। एक छोटे से अखबार में था—पीर-बावर्ची-भिश्ती की तरह! यों जो लोग समझते कि मैं संपादक ही हूँ। उन दिनों न इतने अखबार थे, न इतने संपादक। इसलिए मेरी बड़ी कदर है, यह मैं तब जानता जब कभी दफ्तर से निकलता। देखता, लोग मेरी ओर उँगली उठाकर फुसफुसा रहे हैं। लोगों का मुझ पर यह ध्यान—मुझे हमेशा अपनी पद-प्रतिष्ठा का खयाल रखना पड़ता।

एक दिन मैं चौक के एक प्रसिद्ध पानवाले की दुकान पर पान खा रहा था। मेरे साथ मेरे कुछ प्रशंसक नवयुवक थे। एक-दो बुजुर्ग भी आकर खड़े हो गए। हम पान खा रहे थे और कुछ चुहलें चल रही थीं कि एक बच्चा आया और बोला, 'बाबू, वह औरत आपको बुला रही है।'

औरत! बुला रही है? चौक पर! मैं चौंक पड़ा। युवकों में थोड़ी हलचल, बुजुर्गों के चेहरों पर की रहस्यमयी मुसकान भी मुझसे छिपी नहीं रही। औरत! कौन? मेरे चेहरे पर गुस्सा था, वह लड़का सिटपिटाकर भाग गया।

पान खाकर जब लोग इधर-उधर चले गए, अचानक पाता हूँ, मेरे पैर उसी ओर उठ रहे हैं, जिस ओर उस बच्चे ने उँगली से इशारा किया था। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर पीछे देखा, परिचितों में से कोई देख तो नहीं रहा है। किंतु इस चौक की शाम की रूमानी फिजा में किसी को किसी की ओर देखने की कहाँ फुरसत! मैं आगे बढ़ता गया और वहाँ पहुँचा, जहाँ उससे पूरब वह पीपल का पेड़ है। वहाँ पहुँच ही रहा था कि देखा, पेड़ के नीचे चबूतरे की तरफ से एक स्त्री बढ़ी आ रही है। और निकट पहुँचकर वह कह उठी—'सलाम मालिक!'

धक्का-सा लगा, किंतु पहचानते देर नहीं लगी—उसने ज्यों ही सिर उठाया, चाँदी की बालियाँ जो चमक उठीं!

'रजिया! यहाँ कैसे?' मेरे मुँह से निकल पड़ा।

'सौदा-सुलफ करने आई हूँ, मालिक!अब तो नए किस्म के लोग हो गए न? अब लाख की चूडियाँ कहाँ किसी को भाती हैं! नए लोग, नई चूडियाँ! साज-सिंगार की कुछ और चीजें भी ले जाती हूँ—पौडर, किलप, क्या-क्या चीजें हैं न। नया जमाना, दुलहनों के नए-नए मिजाज...!'

फिर जरा सा रुककर बोली, 'सुना था, आप यहीं रहते हैं, मालिक! मैं तो अकसर आया करती हूँ।'

और यह जब तक पूछूँ कि अकेली हो या—कि एक अधवयस्क आदमी ने आकर सलाम किया। यह हसन था। लंबी-लंबी दाढ़ियाँ, पाँच हाथ का लंबा आदमी, लंबा और मुस्टंडा भी। 'देखिए मालिक, यह आज भी मेरा पीछा नहीं छोड़ता!' यह कहकर रजिया हँस पड़ी। अब रजिया वह नहीं थी, किंतु उसकी हँसी वही थी। वही हँसी, वही चुहल! इधर-उधर की बहुत सी बातें करती रही और न जाने कब तक जारी रखती कि मुझे याद आया, मैं कहाँ खड़ा हूँ और अब मैं कौन हूँ! कोई देख ले तो?

किंतु, वह फुरसत दे तब न! जब मैंने जाने की बात की, हसन की ओर देखकर बोली, 'क्या देखते हो, जरा पान भी तो मालिक को खिलाओ। कितनी बार हुमच-हुमचकर भरपेट ठूँस चुके हो बाबू के घर।'

जब हसन पान लाने चला गया, रजिया ने बताया कि किस तरह दुनिया बदल गई है। अब तो ऐसे भी गाँव हैं, जहाँ के हिंदू मुसलमानों के हाथ से सौदे भी नहीं खरीदते। अब हिंदू चूड़ीहारिनें हैं, हिंदू दर्जी हैं। इसलिए रजिया जैसे खानदानी पेशेवालों को बड़ी दिक्कत हो गई है। किंतु, रजिया ने यह खुशखबरी सुनाई—मेरे गाँव में यह पागलपन नहीं, और मेरी रानी तो सिवा रजिया के किसी दूसरे के हाथ से चूडियाँ लेती ही नहीं।

हसन का लाया पान खाकर जब मैं चलने को तैयार हुआ, वह पूछने लगी, 'तुम्हारा डेरा कहाँ है?' मैं बड़े पशोपेश में पड़ा। 'डरिए मत मालिक, अकेले नहीं आऊँगी, यह भी रहेगा। क्यों मेरे राजा?' यह कहकर वह हसन से लिपट पड़ी। 'पगली, पगली, यह शहर है, शहर!' यों हसन ने हँसते हुए बाँहें छुड़ाईं और बोला, 'बाबू, बाल-बच्चोंवाली हो गई, किंतु इसका बचपना नहीं गया।'

और दूसरे दिन पाता हूँ, रजिया मेरे डेरे पर हाजिर है! 'मालिक, ये चूडियाँ रानी के लिए।' कहकर मेरे हाथों में चूडियाँ रख दीं।

मैंने कहा, 'तुम तो घर पर जाती ही हो, लेती जाओ, वहीं दे देना।'

'नहीं मालिक, एक बार अपने हाथ से भी पिन्हाकर देखिए!' वह खिलखिला पड़ी। और, जब मैंने कहा, 'अब इस उम्र में?' तो वह हसन की ओर देखकर बोली, 'पूछिए इससे, आज तक मुझे यही चूडियाँ पिन्हाता है या नहीं?' और, जब हसन कुछ शरमाया, वह बोली, 'घाघ है मालिक, घाघ! कैसा मुँह बना रहा है इस समय! लेकिन जब हाथ-में-हाथ लेता है...' ठठाकर हँस पड़ी, इतने जोर से कि मैं चौंककर चारों तरफ देखने लगा।

❑

हाँ, तो अचानक उस दिन उसके गाँव में पहुँच गया। चुनाव का चक्कर—जहाँ न ले जाए, जिस औघट-घाट पर न खड़ा कर दे! नाक में पेट्रोल के धुएँ की गंध, कान में साँय-साँय की आवाज, चेहरे पर गरद-गुबार का अंबार—परेशान, बदहवास; किंतु उस गाँव में ज्यों ही मेरी जीप घुसी, मैं एक खास किस्म की भावना से अभिभूत हो गया।

यह रजिया का गाँव है। यहाँ रजिया रहती थी। किंतु क्या आज मैं यहाँ यह भी पूछ सकता हूँ कि यहाँ कोई रजिया नाम की चुड़ीहारिन रहती थी, या है? हसन का नाम लेने में भी शर्म लगती थी। मैं वहाँ नेता बनकर गया था, मेरी जय-जयकार हो रही थी। कुछ लोग मुझे घेरे खड़े थे। जिसके दरवाजे पर जाकर पान खाऊँगा, वह अपने को बड़भागी समझेगा! जिससे दो बातें कर लूँगा, वह स्वयं चर्चा का एक विषय बन जाएगा। इस समय मुझे कुछ ऊँचाई पर ही रहना चाहिए।

जीप से उतरकर लोगों से बातें कर रहा था, या यों कहिए कि कल्पना के पहाड़ पर खड़े होकर एक आनेवाले स्वर्ण-युग का संदेश लोगों को सुना रहा था, किंतु दिमाग में कुछ गुत्थियाँ उलझी थीं। जीभ

अभ्यासवश एक काम किए जा रही थी; अंतर्मन कुछ दूसरा ही ताना-बाना बुन रहा था। दोनों में कोई तारतम्य न था; किंतु इसमें से किसी एक की गति में भी क्या बाधा डाली जा सकती थी?

कि अचानक लो, यह क्या? वह रजिया चली आ रही है! रजिया! वह बच्ची, अरे, रजिया फिर बच्ची हो गई? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें, वही भरबाँह की कमीज, वे ही कुछ लटें, जिन्हें सँभालती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैंतालीस साल का व्यवधान! अरे, मैं सपना तो नहीं देख रहा? दिन में सपना! वह आती है, जबरन ऐसी भीड़ में घुसकर मेरे निकट पहुँचती है, सलाम करती है और मेरा हाथ पकड़कर कहती है, 'चलिए मालिक, मेरे घर।'

मैं भौचक्का, कुछ सूझ नहीं रहा, कुछ समझ में नहीं आ रहा! लोग मुसकरा रहे हैं। नेताजी, आज आपकी कलई खुलकर रही! नहीं, यह सपना है! कि कानों में सुनाई पड़ा, कोई कह रहा है—कैसी शोख लड़की! और दूसरा बोला—ठीक अपनी दादी जैसी! और तीसरे ने मेरे होश की दवा दी—यह रजिया की पोती है, बाबू! बेचारी बीमार पड़ी है। आपकी चर्चा अकसर किया करती है। बड़ी तारीफ करती है। बाबू, फुरसत हो तो जरा देख लीजिए, न जाने बेचारी जीती है या...

मैं रजिया के आँगन में खड़ा हूँ। ये छोटे-छोटे साफ-सुथरे घर, यह लिपा-पुता चिक्कन ढुर-ढुर आँगन! भरी-पूरी गृहस्थी—मेहनत और दयानत की देन। हसन चल बसा है, किंतु अपने पीछे तीन हसन छोड़ गया है। बड़ा बेटा कलकत्ता कमाता है, मँझला पुश्तैनी पेशे में लगा है, छोटा शहर में पढ़ रहा है। यह बच्ची, बड़े बेटे की बेटी। दादा का सिर पोते में, दादी का चेहरा पोती में। हूबहू रजिया! यह दूसरी रजिया मेरी उँगली पकड़े पुकार रही है—दादी, ओ दादी! घर से निकल, मालिक दादा आ गए! किंतु पहली 'वह' रजिया निकल नहीं रही। कैसे निकले?बीमारी के मैले-कुचैले कपड़े में मेरे सामने कैसे आवे?

रजिया ने अपनी पोती को भेज तो दिया, किंतु उसे विश्वास न हुआ कि हवागाड़ी पर आनेवाले नेता अब उसके घर तक आने की तकलीफ कर सकेंगे? और, जब सुना, मैं आ रहा हूँ तो बहुओं से कहा—जरा मेरे कपड़े तो बदलवा दो—मालिक से कितने दिनों पर भेंट हो रही है न!

उसकी दोनों पतोहुएँ उसे सहारा देकर आँगन में ले आईं। रजिया—हाँ, मेरे सामने रजिया खड़ी थी। दुबली-पतली, रूखी-सूखी। किंतु, जब नजदीक आकर उसने 'मालिक, सलाम' कहा, उसके चेहरे से एक क्षण के लिए झुर्रियाँ कहाँ चली गईं, जिन्होंने उसके चेहरे को मकड़जाला बना रखा था। मैंने देखा, उसका चेहरा अचानक बिजली के बल्ब की तरह चमक उठा और चमक उठीं वे नीली आँखें, जो कोटरों में धँस गई थीं! और, अरे चमक उठी हैं आज फिर वे चाँदी की बालियाँ और देखो, अपने को पवित्र कर लो! उसके चेहरे पर फिर अचानक लटककर चमक रही हैं वे लटें, जिन्हें समय ने धो-पोंछकर शुभ्र-श्वेत बना दिया है।

❑

बलदेव सिंह

टूटे हुए तारे की तरह एक दिन हमने अचानक अपने बीच आकर उसे धम्म से गिरता हुआ पाया। ज्योतिर्मय, प्रकाशपुंज, दीप्तिपूर्ण! और, उसी तारे की तरह एक क्षण प्रकाश दिखला, हमें चकाचौंध में डाल वह हमेशा के लिए चलता बना। जिस दिन वह आया, हमें आश्चर्य हुआ; जिस दिन वह गया, हम स्तंभित रह गए।

पूस की भोर थी। खलिहान में धान के बोझों का अंबार लगा था। उनकी रखवाली के लिए जो कुटिया बनी थी, उसके आगे धूनी जल रही थी। खेत में, खलिहान पर, चारों ओर हलका कुहासा छाया हुआ था, जिसे छेदकर आने में सूरज की बाल-किरणों को कष्ट हो रहा था। काफी जाड़ा था; धीरे-धीरे ठंडी हवा सनककर कलेजे को हिला जाती। सब लोग धूनी को घेरे हुए थे, जिसकी लपट खतम हो चुकी थी; हाँ, लाल अंगारे चमक रहे थे। ज्यों-ज्यों अंगारे पर राख की परत पड़ती जाती, हम नजदीक-से-नजदीक होते जाते, मानो हम उन्हें कलेजे में रखना चाहते हों! काफी निस्तब्धता थी। दौनी के लिए खलिहान के बीचोबीच जो बाँस का खंभा गड़ा था, उसके धान के सीसोंवाले झब्बेदार सिरे पर एक काला भुजंगा पंछी बैठा, कभी-कभी चीखकर, उस निस्तब्धता को भंग करने की तुच्छ चेष्टा कर रहा था।

इसी समय एक नौजवान आकर दूर से ही मेरे मामाजी को देखकर चिल्ला उठा, ''पा-लागी, चाचाजी!'' हम सबका ध्यान उसकी ओर गया। एक गबरू जवान! अभी मूँछ की मसें भीग रहीं। रंग गोरा, जिस पर बाल-किरणों ने सोना-सा पोत रखा था। दाहिने हाथ में बाँस की लंबी लाल लाठी, बड़ी सजीली, घने पोरवाली, गाव-दुम-सी उतारवाली। बाएँ हाथ में लोटा लिये वह शौचादि से लौट रहा था। बादामी रंग का, मोटिए का जो लंबा खलीता कुरता पहन रखा था, उसके भीतर से उसके शरीर का गठीलापन और सौंदर्य फूटा पड़ता था।

''ओ बलदेव, तुम कब आए? बहुत दिनों पर दिखाई दिए।...पूरब कमाते हो, खुश रहो; लेकिन हम लोगों को भी तो मत भूलो। शायद दो बरस पर आए हो!'' यों ही मामाजी ने उससे पूछताछ की। बड़ी आजिजी से उसने क्षमा माँगी, फिर बोला, ''चाचाजी, अब सोचा है, यहीं रहूँगा। बहुत दुनिया देखी, मन कहीं न लगा। ननिहाल से भी जी ऊब गया; यह पुश्तैनी जमीन जैसे डोर लगाकर खींचती रहती है। सोचता हूँ, अब आप लोगों की सेवा में ही जिंदगी गुजार दूँ।''

नवयुवकों को जब मालूम हुआ, बलदेव सिंह यहीं बसेंगे, उनके आनंद का ठिकाना न रहा। बलदेव सिंह के पिता भरी जवानी में मरे, बलदेव तब छोटे से बच्चे थे। उनकी माँ उन्हें लेकर मायके चली गई और तब से वह बेचारी वहीं है। जवान होने पर बलदेव पूरब जाने लगे। वहाँ बंगाल में किसी राजा के दरबार में पहलवानी करते। काफी पैसे मिले। अब उन्हें अपनी पुश्तैनी जमीन की याद आई थी।

वह घर जो खँडहर बना था, फिर एक बार आबाद हुआ।

गाँव में उनके आने से नई जान आ गई—जान आ गई, जवानी आ गई। अखाड़ा खुद गया। उसमें कुश्तियाँ होने लगीं। भोर में कुश्तियाँ, शाम को पट्टेबाजी, गदका, लाठी चलाना आदि। पेठियाँ के दिन बलदेव सिंह शिष्य-मंडली के साथ सदल-बल चलते देखते ही बनता।

आगे-आगे बलदेव सिंह जा रहे हैं। पैरों में बूट, जो बंगाल से ही लाए थे। कमर में धोती, जिसे कच्छे की तरह अजीब ढंग से पहनते। वह घुटनों से थोड़ा ही नीचे जाती, घुटनों के नजदीक उसमें चुन्नट होती, जिससे चलते समय लहराती रहती। लंबा कुरता—गरदन की बगल में, जिसमें एक ही घुंडी। कुरता काफी घेरदार, बाँह का घेरा इतना बड़ा कि हाथी का पैर समा जाए उसमें। गले में सोने की छोटी-छोटी ठोस ताबीजों की पंक्ति, जिसमें कुछ चौकोर और कुछ चंद्राकार। सिर पर कलँगीदार मुरेठा, जिसका एक लंबा छोर उनकी पीठ पर झूलता। हाथ में सरसों का तेल और कच्चा दूध पिला-पिलाकर पोसी-पाली गई, लाल-सुर्ख लंबी लाठी; या कभी-कभी वह मोटा डंडा, जिसमें कुरते के नीचे कमर में लटकती हुई गँड़ासे की फली बात-की-बात में फिट

करके वह साक्षात् यम बन सकते थे। अपनी ताकत और हिम्मत का उन्हें इतना विश्वास था कि झूमते हुए, सिर ऊँचा किए, छाती ताने, शेर की तरह चलते। आगे-आगे वह, पीछे-पीछे इसी बन-ठन और रूप-रंग में उनकी शिष्य-मंडली होती। रास्ते में, पेठियाँ में, उनका सुंदर-सुडौल शरीर देखकर किसकी आँखें न निहाल हो उठतीं!

शरीर में इतनी ताकत, लेकिन स्वभाव कैसा—बच्चों-सा निरीह, निर्विकार! चेहरे पर हमेशा हँसी खेलती रहती। सबके साथा नम्रता से पेश आते। कभी गुस्सा उनमें देखा नहीं गया। सबकी सेवा करने को सर्वदा प्रस्तुत! बच्चे उन्हें देखते ही लिपट जाते, बूढ़ों की आँखें हमेशा उनपर आशीर्वाद बरसातीं; जवानों के तो वह देवता बन चुके थे।

❑

उन दिनों हिंदू-मुसलमानों की तनातनी नहीं थी। दोनों दूध-चीनी की तरह घुले-मिले थे। हिंदू की होली में मुसलमानों की दाढ़ी रँगी होती, मुसलमानों के ताजिए में हिंदू के कंधे लगे होते।

ताजिए के दिन थे। मेरे गाँव में भी ताजिया बना था, यद्यपि एक भी मुसलमान वहाँ नहीं। एक बूढ़े मौलवी साहब बुलाए गए थे, जो उसके धार्मिक कृत्य कर लेते। हमें सरोकार था सिर्फ ताजिए के निकट हो-हल्ला मचाने से। शाम हुई, जल्द-जल्द खा-पीकर सब लोग एकत्र हुए। ताशे बज रहे, लकड़ी खेली जा रही, गदके भाँजे जा रहे, पट्टेबाजी हो रही। लाठियों के खेल, तरह-तरह के शारीरिक करतब। औरतें और बच्चे मर्सिया के नाम पर शोर मचा रहे। खेल-कूद में आधी-आधी रात बीत जाती।

ताजिए के 'पहलाम' का दिन आया। गाँव से दूर राजपूतों की एक बस्ती में 'रन' सजता। वहीं जवार भर के ताजिए इकट्ठे किए जाते। लोगों की अपार भीड़, तरह-तरह के रंगीन कपड़ों की चकमक; बूढ़े जवान, बच्चे, औरतें। तरह-तरह के मारू बाजे बज रहे; मर्सिए की मीठी धुन में 'या अली' का गगनभेदी स्वर! दिशाएँ काँपतीं, आसमान थर्राता, कलेजे उछलते। जवार भर के जवानों का तो यही दिन था। बन-ठनके आए हुए हैं। कहीं कुश्तियाँ हो रही हैं, कहीं मेंढ़े लड़ाए जा रहे हैं। कहीं लाठी, गदके और लकड़ी में हाथ की करामातें दिखाई जातीं। देखते-देखते दर्शकों का दल दो मतों में विभाजित हो जाता। कोई एक को शाबाशी देता, कोई दूसरे को। दोनों अपने-अपने 'हीरो' की विजय चाहते। कभी-कभी इस वीर-पूजा के चलते ललकारें लग जातीं, आँखें लाल हो उठतीं, भुजाएँ फड़कने लगतीं; मालूम होता, अब मुठभेड़ होकर ही रहेगी। किंतु प्राय: इस भावना पर बुद्धि की विजय होती। थोड़ी देर में समुद्र का ज्वार शांत हो जाता। फिर आँखों में रस, होंठों पर हँसी।

हम लोग भी अपना ताजिया लिये 'रन' पर पहुँचे थे।

एक जगह मेंढ़े लड़ाए जा रहे थे, मैं उसी को देख रहा था। मेंढ़ों की लड़ाई—वाह, क्या कहना! ये छोटे, झबरीले जानवर, जो अपने मालिकों के पीछे सुधुआ बने फिरते—एक-दूसरे पर किस तरह टूट पड़ते! इनके सींग जब टकराते, जोर के शब्द के साथ जैसे धुआँ-सा उठ जाता। टक्कर-पर-टक्कर—जब तक उनमें से एक गिर न पड़े, या वे अलग-अलग पकड़ न लिये जाएँ। लड़ने से पहले लाल मिर्च उनके मुँह में रखकर जैसे उन्हें और भी उत्तेजित कर दिया जाता। मैं मस्त-मगन हो यह मेंढ़ा-लड़ान देख रहा था, कि...

एकाएक बड़े जोरों का हो-हल्ला हुआ। सभी लोग एक ओर दौड़े जा रहे हैं। और, वहाँ लाठियों की खटाखट जारी है। यह खटाखट खेल की नहीं है; कई सिरों से खून के फव्वारे छूट रहे हैं।

और यह, बीच में, कौन है? बलदेव सिंह! —पुराने हँसमुख, रसीले बलदेव सिंह नहीं! बलदेव सिंह—साक्षात् भीम बने हुए! आँखों से अंगारे झड़ रहे। सिर पर जो एक लाठी लगी थी, उससे खून निकलकर ललाट से होते, भौं के ऊपर, जमकर वह एक लोंदा-सा बन गया था। दोनों हाथों से लाठी पकड़े वह जोरों से चलाए जा रहे थे। जिस ओर इस रूप में निकल जाते, हड़कंप मच जाता। देखिए—यह आदमी उनकी ओर लाठी सँभाले बढ़ा; उसे देखते ही खड़े हो गए। उसने लाठी चला ही तो दी। झट अपनी लाठी के दोनों छोर दोनों हाथों

से पकड़कर अपने सिर के ऊपर ले गए। उसकी लाठी की चोट इसी पर ठाँय-सी आकर लगी। दूसरी बार, तीसरी बार। बार-बार वार व्यर्थ जाता देख वह भागा। किंतु, अब बलदेव सिंह की बारी है—बलदेव सिंह की एक लाठी और वह जमीन पर चक्कर खाता गिर पड़ा। अरे, यह क्या होने जा रहा है? चारों ओर हाहाकर मचा था, भगदड़ फैल गई थी। अब वहाँ महाभारत मचकर रहेगा, सब अनुमान कर रहे थे। कौन, किसको, क्या कहकर समझाए?कौन किसकी सुनने जा रहा था?फिर, बिना बलदेव सिंह को शांत किए क्या शांति आ सकती थी?

झट हमारे बूढ़े मामाजी आगे बढ़े। चिल्लाकर कहा, ''बलदेव!'' बलदेव सिंह को जैसे थरथरी बँध गई। पैर जम गए, हाथ रुक गए। किंतु तुरंत सँभलकर वह बोले, ''चाचाजी, आप मत रोकिए। इन लोगों को लाठी का घमंड हो गया है। मैं जरा बता देना चाहता हूँ, लाठी क्या चीज है!'' उनकी साँस जोर-जोर से चल रही थी, गुस्से में बातें टूट-टूटकर निकलतीं। सचमुच, बलदेव सिंह का इसमें कोई हाथ नहीं था। उन्हें लाचार होकर कूदना पड़ा था। एक जोड़ी कुश्ती लड़ी जा रही थी। दोनों पहलवान बलदेव सिंह से अपरिचित थे। उनमें से एक ने 'फाउल-प्ले' करना चाहा। बलदेव ने अलग से ही रोका, मना किया, ''ऐसा करना मुनासिब नहीं।'' बस, इनकी बात सुनते ही उसके पक्षवाले इन पर बिगड़े, गुर्राए; क्योंकि वे लोग लाठी चलाने में इस जवार में सरगना समझे जाते थे। उन्हें घमंड था कि उनके सौ खून माफ हैं। किंतु बलदेव सिंह धौंस को कहाँ बरदाश्त करनेवाले? 'बातहि बात करख बढ़ि आई' और उसका नतीजा यह!

खैर, मामाजी के पड़ने से बलदेव सिंह शांत हुए। किंतु, अब तो उनकी विजय हो भी चुकी थी। मैदान उनका था। उनकी शिष्य-मंडली के साथ हम किस तरह शान से उन्हें घर लाए। हम आज विजयी थे, हमारा गाँव विजयी था! मानो राम लंका-विजय कर अयोध्या पहुँचे थे।

❑

अगर शेरशाह या शिवाजी के दिन होते तो बलदेव सिंह फौज में भरती होते और सिपाही से होते-होते सूबेदार तक हो गए होते, इसमें तो कोई शक नहीं। सूरत-शक्ल, बल-हिम्मत सबकुछ उनमें थे, जो सामंतशाही के उस युग में उन्हें अच्छे-से-अच्छे फौजी पद पर पहुँचा देते। उस समय बलदेव सिंह किस शान से हमारे गाँव में आते? घोड़े पर सवार—कलँगीदार पगड़ी, कड़ी-कड़ी मूँछें, आगे-पीछे नौकर-चाकर! किंतु, अँगरेजी राज्य में यह कहाँ संभव था? हाँ, जो संभव था, वही हम देखते थे। वीरता अपने लिए कोई निकास का रास्ता तो बनाने वाली ही थी।

यह अजीब है हमारी बस्ती! चारों ओर राजपूतों और अहीरों का ठट्ठ। राजपूतों में अगर राम की शान तो ग्वालों में कृष्ण की यादवी आन-बान! दोनों कौमों में जैसे खानदानी बैर चला आ रहा हो। छोटी-छोटी बात पर भी तनाव हो जाता, मूँछें कड़ी हो उठतीं, आँखें लाल हो जातीं और लाठियाँ चलकर रहतीं। दोनों कौमें दो गिरोह की हैसियत से लड़ती थीं। तो गिरोह के अंदर भी युद्ध जारी ही रहता था। भाई-भाई में, पड़ोसी-पड़ोसी में। एक बित्ता जमीन के लिए, आम के एक फल के लिए, शीशम की एक डाल के लिए खून के फव्वारे छूटते। ये युद्ध प्राय: आकस्मिक होते। खेत की जुताई हो रही है, पेड़ के नीचे गपशप हो रही है; रास्ता चलते-चलते भी लोगों में गुत्थम-गुत्थी हो गई। किंतु कभी-कभी जमकर भी लड़ाइयाँ होतीं। दोनों पक्ष से लोगों का 'बिटोरा' होता। भाई-बंद जुटते, कुटुम-कबीले के लोग आते, कुछ लोग पैसे पर भी बुलाए जाते। ऐसे मौके आने पर, हमारे जवार में, कहीं भी कोई जमकर लड़ाई होती हो तो बलदेव सिंह एक-न-एक पक्ष से जरूर बुलाए जाते और 'यतोधर्मस्ततो जय:' की तरह ही जिस तरफ बलदेव सिंह होते, उसी पक्ष की जय भी निश्चित होती।

एक बार इस तरह का एक धर्मयुद्ध देखने का मौका मुझे भी मिला। बिसुनपुर में दो भाई क्षत्रिय थे। दोनों की दाँत-काटी रोटी थी; किंतु आखिर दिल टूटा तो एक-दूसरे की जान के दुश्मन बनके रहे। घर-द्वार, खेत-खलिहान—सबका बाँट-बखरा हो चुका था। दोनों एक आँगन में रहते भी दो दुनिया के जीव थे।

संयोग से, उस साल आम के एक पेड़ के लिए दोनों भाइयों में तनातनी हो गई। वह लँगड़ा आम का पेड़! हमने जाकर देखा, फलों के गुच्छों से लदी उसकी डाल-डाल जैसे जमीन छूने को ललक रही हो। हरे-हरे पत्ते उन सुफेदी लिये हुए आमों के गुच्छों में न जाने कहाँ छिप रहे थे! काफी पुराना पेड़ था। खूब फैल गया था। और हर साल अच्छा फल भी देता था; किंतु इस साल तो वह द्रौपदी की चीर बनकर महाभारत मचाने आया था। फिर, यह ललचानेवाला वेश वह क्यों न धारण कर ले!

कहते हैं, यह पेड़ बँट चुका था। छोटे भाई की बाँट में पड़ा था, जो कई साल से उसके फल का उपभोग कर रहा था। किंतु बड़े भाई के लड़के ने हिसाब लगाकर देखा, यह आम का पेड़ तो मेरे हिस्से का है, धोखे से चाचाजी को मिल गया है। पेड़ों की गिनती, खतियान, सबको वह अपने पक्ष में पेश करता।

किंतु यहाँ खतियान से क्या होने वाला है? 'अगर तुम्हारा है तो मर्द के बेटे हो, चढ़के आओ, फल तोड़ लो, खाओ। नहीं तो लुगाई के आँचल में मुँह रखकर सोओ।' सीधा तर्क, सीधी बात! इसके जवाब में एक दिन तय कर दिया गया—'अगले सोमवार को डंका बजाके हम फल तोड़ेंगे। चुप-चोरी जो काम करे, उसकी ऐसी-तैसी।' दिन तय हुआ, घड़ी तय हुई। दोनों तरफ से 'घिटोरा' होने लगा।

बलदेव सिंह के पास भी दोनों पक्षों से निमंत्रण आने लगे। किंतु यहाँ तो कृष्णजी की टेक थी। जो खुद मेरे पास पहले आएगा, उसका साथ दूँगा; यह चिट्ठी-पत्री क्या चीज? बड़े भाई का बेटा एक दिन घोड़े पर पहुँचा। उससे बातचीत हो ही रही थी कि छोटे भी पहुँचे। किंतु तब तक बलदेव सिंह वचन दे चुके थे। दूसरे दिन सशिष्य-मंडली वह बिसुनपुर जा पहुँचे।

आज ही युद्ध होने वाला है। लड़ाइयों से दूर ही रहना चाहिए; क्योंकि प्राय: निर्दोष भी उसमें फँस जाते, पिट जाते हैं। बड़े-बूढ़ों की इस आज्ञा की अवहेलना करके भी कुतूहलवश मैं दर्शकों की उस भीड़ में शामिल हो गया, जो भिन्न-भिन्न दिशाओं से बिसुनपुर जा रहे थे।

बिसुनपुर उस दिन कुरुक्षेत्र बना हुआ था। बीच में वह आम का पेड़ निश्चय, निर्द्वंद्व खड़ा है। दो ओर दोनों प्रतिद्वंद्वियों की जमात जुड़ी है। भालों की फलियाँ धूप में चमचम कर रही हैं, गँड़ासे दिन में भी चाँद-से चमक रहे हैं; फरसे परशुराम की याद दिलाते हैं। लाठियाँ उछल रही हैं—धामिन साँप की तरह! हाँ, तलवार की बहुत ही कमी थी, क्योंकि उस पर अँगरेजी राज की शनि-दृष्टि पड़ चुकी थी। पर, लठैतों का कहना था, 'जो मार भाले और फरसे की होती है, वह तलवार की कहाँ!' मैं उनके तर्कों पर नहीं भूला था, मेरी विस्मय-विमुग्ध आँखें तो इन तैयारियों को देख रही थीं। रह-रहकर जय-ध्वनियाँ होतीं, ललकारें उठतीं। जब-तब आल्हा के कुछ कड़खे भी सुनाई पड़ते।

'बोलो, महावीर स्वामी की जय!' कहकर दोनों पक्ष के योद्धा आम की ओर बढ़े। दर्शकों के कलेजे धकधक करने लगे। अरे, कुछ देर में ही इनमें से कुछ मर चुके होंगे, कुछ घायल पड़े होंगे! उफ! मेरे मुँह से अच्छी तरह निकल भी नहीं पाई कि देखा, बड़े भाई के पक्ष में सबसे आगे बलदेव सिंह हैं। सबसे आगे बलदेव सिंह, उनके दोनों बाजू मेरे ही गाँव के उनके दो प्रधान शिष्य। बलदेव सिंह के सिर पर केसरिया रंग का मुरेठा है। पैर में वही बूट। वही लंबा-चौड़ा कुरता देह में; किंतु उसके घेरे को कमर के निकट एक पट्टी से कस रखा है, जिससे फुरती से उछलने-कूदने में दिक्कत न हो। उनकी धोती तो प्राय: ही हाफ-पैंट का काम करती। चेहरा कैसा लाल-भभूका बन रहा था!

वह आगे बढ़े, आम के पेड़ के निकट पहुँचे। दोनों शिष्यों को इशारा किया, वे झट से पेड़ पर चढ़ गए और लगे आम की डाल को झकझोरकर निर्दयतापूर्वक फलों को गिराने। 'कोई माँ का लाल है, तो आवे!' बलदेव सिंह गरज उठे, जिनकी ओर विपक्षी दल भौचक हो देख रहा थे, जैसे वह भी दर्शकों का ही दल हो! किंतु उनकी इस चुनौती से मानो दुश्मन दल को आत्म-ज्ञान हो आया। फिर क्या था, दोनों दलों में गुत्थम-गुत्थी शुरू हो चली। लाठियों की खटाखट, गँड़ासे की चुभ-चुभ और बरछों की सनसनाहट से वायुमंडल व्याप्त था। जय-

ध्वनियों के साथ हाहाकार भी! किसी के सिर पर लाठी लगी, किस तरह खोपड़ी फूटकर दो-टूक हो गई! वह गिर पड़ा और खून की धारा बह रही है। किसी के पेट में भाला चुभा—भाले की फली के साथ ही उसकी अँतड़ी बाहर आ गई है, अँतड़ी को दोनों हाथों से पकड़े वह औंधा पड़ा है। जो हाथ एक मिनट पहले लाठी भाँज रहा था, गँड़ासे के एक ही वार ने उसे शरीर से अलग कर दिया है। वह रक्तसिक्त जमीन पर अब भी रह-रहकर उछल जाता है। चारों ओर खून, चीख! मेरी तो आँखें बंद हो गईं।

जब आँखें खुलीं तो सारा किस्सा खत्म है। बड़े भाई का कब्जा उस पेड़ पर हो चुका है। उस कब्जे में बलदेव सिंह का बड़ा हाथ था। मैं अपने इस 'हीरो' को देखना चाहता था; किंतु मालूम हुआ, पुलिस सुपरिंटेंडेंट साहब अब, जब तमाशा खत्म हो चुका है, तशरीफ लाए हैं और लोगों ने बलदेव सिंह को वहाँ से हटा दिया है। 'बलदेव सिंह! विजय तुम्हारी; अब तो रुपयों का खेल है। तुम हटो, अब काम मेरा है।' बड़े भाई के बड़े साहबजादे ने कहा और चलते समय बलदेव सिंह के गले में एक मुहरमाला डाल दी।

❑

और, उसी बलदेव सिंह की यह लाश हमारे सामने पड़ी है!

सिर चूर-चूर, जैसे भुरता बना दिया हो! खून और धूल से सराबोर जिस ललाट से तेज बरसता, उसी पर मक्खियाँ भिन्ना रहीं! एक आँख धँस गई, दूसरी बाहर निकल आई! होंठ को छेदकर दाँत बाहर निकल रहे हैं। नहीं-नहीं, यह हमारा बलदेव सिंह नहीं हो सकता! बलदेव सिंह की ऐसी गत?

एक गँड़ासा गहरा, कंधे पर लगा है; वह बाँह लटक-सी गई है। दूसरी बाँह का पूरा पंजा गायब! छाती वैसी ही तनी है। पहले से कुछ ज्यादा ही फूली हुई। किंतु पेट की जगह सारी आँत निकल आई है! आँत का यह ढेर कैसा भयानक, कैसा वीभत्स! नहीं, यह हमारा बलदेव सिंह हो नहीं सकता!

पैरों को जैसे किसी ने मकई के डंठल-सा पीट रखा है—आड़े-तिरछे बन रहे! कहीं अजीब फूला हुआ, कहीं से खून बह रहा! बह कहाँ रहा? बहाव तो कब का बंद हो गया, अब तो काले बने खून के धब्बे मात्र, जिन पर —हाँ, जिन पर मक्खियाँ भिन्ना रहीं। नहीं, यह हमारा बलदेव सिंह हो नहीं सकता!

बलदेव सिंह की ऐसी गत!

जिस शरीर को देख-देखकर आँखें नहीं अघाती थीं, माँएँ जिसे देखकर कहतीं, 'मेरा बेटा ऐसा ही शरीर-धन पावे।' युवतियाँ मन-ही-मन गुनतीं—'धन्य है वह नारी, जिसे ऐसा पति मिला; अगले जनम में हे भगवान्, मुझे बलदेव सिंह की ही दासी बनाना।' बूढ़े देखते ही कहते—'बेटा शतजीव!' नौजवान जिस पर पागल हो बिना मोल के गुलाम बने पीछे लगे फिरते, वही शरीर यहाँ आज सामने पड़ा है। खून से लथपथ, धूल से भरा, क्षत-विक्षत, कुरूप-कुडौल बना—और ये कमबख्त मक्खियाँ जिन पर भिन्न-भिन्न कर रहीं!

किसने गत की इस शेर मर्द की ऐसी?किसकी माँ ने दूसरा शेर पैदा किया?

काश, किसी शेर ने यह हालत की होती! दो शेर लड़ते हैं, एक गिरता है। ऐसा ही होता है; इसके लिए अफसोस की क्या बात?बलदेव सिंह तो ऐसी ही मृत्यु चाहते थे। उन्होंने मौत की कब परवाह की? मौत की आँखों में आँखें डालकर मुसकुराना—यही तो बलदेव सिंह थे। क्षत्रिय की तरह युद्धक्षेत्र में काम आऊँ, खेत रहूँ—यही तो उनकी कामना थी। यह कामना पूरी हुई; वह वीरगति पाकर, सूर्यमंडल को भेदकर अमरपुरी गए, इसमें तो कोई शक नहीं। किंतु जिन हाथों ने यह काम किया, क्या वे वीर के हाथ थे? शेर के पंजे थे? नहीं-नहीं, कुछ सियारों ने—बुजदिलों और कायरों ने—छुपकर, घात लगाकर बड़े बुरे मौके पर, बड़े बुरे ढंग से यह कुकर्म किया। उसकी कल्पना भी खून को खौला देती है, उत्तेजित कर देती है। उफ रे!

❑

एक दिन जवार के एक गाँव की एक विधवा मेरे गाँव में बलदेव सिंह का नाम पूछती-पूछती आई। उस बेचारी के साथ एक छोटा बच्चा था, उसी का बच्चा। उस विधवा के अबलापन से और उस क्षत्रियकुमार के

बचपन से फायदा उठाकर उसके पट्टीदारों ने उसका धन हड़प लिया था। विधवा के कानों में बलदेव सिंह की यशोगाथा पड़ी थी। वह तो अब हमारे जवार के घर-घर में, जबान-जबान पर व्याप्त थे। विधवा पहुँची बलदेव सिंह के दरबार में अरज लगाने। जब पट्टीदारों को मालूम हुआ, वह बलदेव सिंह के पास जा रही है, ताने देते हुए कहा था, 'जा, नया शौहर बुला ला।' नया शौहर? क्षत्राणी को नया शौहर! 'बाबू, मेरी लाज रखो।' सारी कहानी कहती हुई वह बलदेव सिंह के पैरों पर गिर पड़ी। बलदेव सिंह ने बच्चे को कंधे पर बिठाया और चल पड़े उस गाँव को।

जब गाँव से जा रहे थे, उन्हें मैंने देखा था। 'प्रणाम भाईजी'—मैंने कहा। चेहरे पर गुस्से की छाप स्पष्ट थी, किंतु स्वाभाविक हँसी हँसते हुए आशीर्वाद दिया और कहा, 'एक अबला की रक्षा में जा रहा हूँ बबुआ; दो-चार दिनों में लौटता हूँ।'

बलदेव सिंह नहीं लौटे, लौटी है उनकी यह लाश!

वहाँ जाते ही उन्होंने पट्टीदारों को चुनौती दे दी। दूसरे दिन विधवा के छीने हुए एक खेत पर हल भी चढ़ा दिए। कोई नहीं बोला। कौन बोलता? एक के बाद दूसरे खेत विधवा के कब्जे में आने लगे। बहुत दिनों की गई अमराई पर अब उसका कब्जा था। उस बगीचे की एक लीची की डाल में झूला डालकर उस क्षत्रियकुमार को बलदेव सिंह झुलाते रहते। जो लोग विधवा के पट्टीदारों के डर से कल बोलते नहीं थे, अब वे ही बलदेव सिंह को शाबासी देते हुए उस छोटे से बच्चे से अपना पुराना नाता जोड़ते; क्योंकि अब वह विधवा अबला नहीं थी। पिता खोकर उस बच्चे ने एक धर्म का पिता पा लिया था।

बलदेव सिंह के साथ उनके कुछ शिष्य भी गए थे। अब मामला पूरी तरह शांत हो चला। उस गाँव के भी काफी लोग उनके पक्ष में आ गए। तब उन्होंने एक-एक करके अपने शिष्यों को वहाँ से रवाना कर दिया। बेचारी विधवा पर ज्यादा खर्च का बोझ क्यों रहने दें? अंतत: एक दिन तय किया, अब मैं भी जाऊँगा।

और, वह कल नहीं देख सके।

उनकी आदत थी, बहुत सवेरे, बिलकुल मुँहअँधेरे शौच को जाते। गाँव से काफी दूर निकल जाते। जब तक तनाव था, अपने साथ किसी शिष्य को भी ले लेते। हथियार तो हमेशा पास में रखते ही, कम-से-कम हाथ में लाठी और कमर में गँड़ासे की फली, जिसे बात-की-बात में लाठी में लगाकर प्रलयंकर बन जा सकते। किंतु, उस दिन निश्ंिचत हो वह सिर्फ लोटा ही लेकर निकल पड़े। सारा गाँव भोर की सुख-निंदिया ले रहा था। किंतु, उनके लिए मौत का फंदा डाला जा चुका था।

एक नीची खाई में वह शौच के लिए बैठे ही थे कि उनके सिर पर लाठी का एक वज्र प्रहार हुआ। एक क्षण के लिए वह जैसे बेहोश हो गए, फिर तुरंत खड़े हुए और सामने पड़े लोटे को हाथ में उठाकर उसी से ढाल का काम लेने लगे। दूसरी लाठी—लोटे पर टन-सी आवाज! तीसरी लाठी—'फूल' का वह लोटा चूर-चूर हो रहा। फिर क्या था, लाठी, गँड़ासे, बरछे चारों ओर से बरसने लगे। बीच से उछलकर एक बार उस चक्रव्यूह से, अभिमन्यु की तरह, निकलने की कोशिश की; किंतु फिर घिर गए, घेर लिये गए, और आह! उस सन्नाटे के आलम में, जब दुनिया भोर की सुख-निंदिया ले रही थी, उन कायरों, सियारों ने इस शेर मर्द की वह दुर्गति की, जो हम यह सामने देख रहे हैं।

एक भोर थी, जब मैंने बलदेव सिंह का वह रूप देखा था—आभामय, जीवनमय, यौवनमय! और आज भी एक भोर है, जब हम उन्हें इस रूप में देख रहे हैं!

उफ, आह!

❑

सरजू भैया

सरजू मैया नहीं, सरजू भैया। यह हमारे गाँवों की विशेषता है कि कभी-कभी मर्द गंगा, यमुना या सरजू हो जाते हैं। इस बारे में औरतें ही सौभाग्यशालिनी हैं, प्राय: उनके नामों में ऐसे अनर्थ नहीं होते।

हाँ, तो सरजू भैया! मेरे घर से सटा हुआ जो एक घर है—एक तरफ दो खपड़ैल मकान, एक तरफ मिट्टी की दीवार पर फूस के छप्पर, एक तरफ टट्टी के दो झोंपड़े, एक तरफ मकान नहीं, सिर्फ टट्टी खड़ाकर छोटा सा आँगन निकाला हुआ—उसी घर के सौभाग्यशाली मालिक हैं हमारे सरजू भैया! सरजू भैया को कोई छोटा भाई नहीं रहा, और मैंने प्रथम संतान के रूप में ही अपनी माँ की गोद भरी; अत: हम दोनों ने परस्पर एक नाता जोड़ लिया है—वह मेरे बड़े भाई हैं, मैं उनका छोटा भाई।

गाँव के सबसे लंबे और दुबले आदमियों में सरजू भैया की गिनती हो सकती है। रंग साँवला, बगुले-सी बड़ी-बड़ी टाँगें, चिंपांजी की तरह बड़ी-बड़ी बाँहें! कमर में धोती पहने, कंधे पर अँगोछी डाले जब वह खड़े होते हैं, आप उनकी पसलियों की हड्डियाँ गिन लीजिए। नाक खड़ी, लंबी। भवें सघन। बड़ी-बड़ी आँखें कोटरों में धँसीं। गाल पिचके। अंग-अंग की शिराएँ उभरीं—कभी-कभी मालूम होता मानो ये नसें नहीं, उनके शरीर को किसी ने पतली डोरों से जकड़ रखा है!

ऊपर की तसवीर निस्संदेह किसी भुखमरे, मनहूस आदमी की मालूम होती है। किंतु, क्या बात ऐसी है? सरजू भैया मेरे गाँव के चंद जिंदादिल लोगों में से एक हैं। बड़े मिलनसार, मजाकिया और हँसोड़! वह दिल खोलकर जब हँसते हैं—शरीर भर में जो सबसे छोटी चीजें उन्हें मिली हैं—वे उनके पंक्तिबद्ध छोटे-छोटे दाँत, तब बेतहाशा चमक पड़ते हैं, अंग-अंग हिलने-डुलने लगते हैं। जैसे हर अंग हँस रहा हो। और, सरजू भैया के पास इतनी संपत्ति है कि वह खुद या अपने परिवार का ही पेट नहीं भर सकते, बल्कि आगत-अतिथि की सेवा-पूजा भी मजे में कर सकते हैं।

तो फिर यह हड्डियों का ढाँचा क्यों? मैं जवाब में एक पुरानी कहावत पेश करूँगा—'काजीजी दुबले क्यों? —शहर के अंदेशे से!'

हाँ, सरजू भैया की यह जो हालत है, वह अपने कारण नहीं, दूसरों के चलते। पराए उपकार के चलते उन्होंने न सिर्फ अपना शरीर सुखा लिया है, बल्कि अपनी संपत्ति की भी कुछ कम हानि नहीं की है।

उनके पिता, जो गुमाश्ताजी कहलाते थे, मेरे गाँव के अच्छे किसानों में से थे। चौपाल, साफ-सुंदर उनका मकान और अच्छा-खासा बैठकखाना था, जहाँ आज सरजू भैया की यह राम मड़ैया है। खेतीबारी तो थी ही, रुपए और गल्ले का अच्छा लेन-देन था। परिवार भी बड़ा और खर्चीला नहीं था। लेकिन, उनके मरते ही सरजू भैया ने लेन-देन चौपट कर दिया। बाढ़ ने खेती बरबाद की और भूकंप ने घर का सत्यानास किया। उनका लेन-देन इतना अच्छा था कि वह शायद खेती को भी सँभाल देता, घर भी खड़ा कर सकता था। किंतु, सरजू भैया और लेन-देन?

लेन-देन, जिसे नग्न शब्दों में सूदखोरी कहिए—चाहता है, आदमी आदमीपन को खो दे; वह जोंक, खटमल, नहीं चीलर बन जाए। काली जोंक और लाल खटमल का स्वतंत्र अस्तित्व है। हम उनका खून चूसना महसूस करते हैं, हम उनमें अपना खून प्रत्यक्ष पाते और देखते हैं। लेकिन चीलर? गंदे कपड़े में, उन्हीं-सा काला-कुचैला रंग लिये वह चुपचाप पड़ा रहता है और हमारे खून को यों धीरे-धीरे चूसता है और तुरंत उसे अपने रंग में बदल देता है कि उसका चूसना हम जल्द अनुभव नहीं कर पाते, और अनुभव करते भी हैं तो जरा सी सुगबुगी या ज्यादा-से ज्यादा चुनचुनी मात्र! और अनुभव करके भी उसे पकड़ पाने के लिए तो कोई खुर्दबीन ही चाहिए।

सरजू भैया चीलर नहीं बन सकते थे। उनके इस लंबे शरीर में जो हृदय मिला है, वह शरीर के ही परिमाण

से। जो भी दुखिया आया, अपनी विपदा बताई, उसे देवता-सा दे दिया और वसूलने के समय जब वह आँखों में आँसू लाकर गिड़गिड़ाया तो देवता ही की तरह पसीज गए। सूद कौन कहे, कुछ ही दिनों में मूल धन भी शून्य में परिणत हो गया। उलटे अब वह खुद हाथ-हथफेर में व्यस्त रहते हैं।

बाढ़ और भूकंप ने उनके खेत और घर को बरबाद किया जरूर, लेकिन सरजू भैया, मेरा यकीन है, आज की फटेहाली से बहुत कुछ बचे रहते, यदि लेन-देन के बाद भी इन दोनों की तरफ ही पूरा ध्यान दिए होते। यह नहीं कि वह जी चुरानेवाले या आलसी और बोदा गृहस्थ हैं। नहीं, ठीक इसके खिलाफ चतुर, फुरतीला और काम-काजू आदमी हैं। लेकिन करें तो क्या? उन्हें दूसरे के काम से ही कहाँ फुरसत मिलती है!

गंगा भाई के घर में बच्चा बीमार है, वैद्य को बुलाने कौन जाएगा—सरजू भैया! हिरदे को बाजार से कई सौदा-सुलफ लाना है, वह किसे भेजे—सरजू भैया को। खबर आई है, रामकुमार के मामाजी अपने गाँव में सख्त बीमार हैं, उनकी खोज-खबर कौन लाए—सरजू भैया से बढ़कर कौन दूसरा धावन होगा? परमेश्वर को एक रजिस्टरी करनी है; शिनाख्त कौन करेगा—सरजू भैया! किसी के घर में शादी-ब्याह, यज्ञ-जाप हो और सरजू भैया अस्त-व्यस्त। किसी की मौत हो जाने पर, यदि वह अँधेरी रात में हो, तो निश्चय ही कफन खरीदने का जिम्मा सरजू भैया पर रहेगा। यों गाँव भर के लोगों का बोझ अपने सिर पर लेकर सरजू भैया ने न केवल अपने खेत और घर को मटियामेट किया है, बल्कि इसी उम्र में अपनी कमर भी झुका ली है। दिन हो या रात, चिलचिलाती दुपहरिया हो या अँधेरी अधरतिया, सरजू भैया के सेवा-सदन का दरवाजा हमेशा खुला रहता है। विक्टर ह्यूगो ने अपनी अमर कृति 'ला मिजरेबल' में कहा है—''डॉक्टर का दरवाजा कभी बंद नहीं रहना चाहिए और पादरी का फाटक हमेशा खुला होना चाहिए।'' सरजू भैया को निस्संदेह इन दोनों का रुतबा अकेले हासिल है।

मेरे क्षुद्र विचार से सरजू भैया का व्यक्तित्व अनुकरणीय ही नहीं, वंदनीय, पूजनीय है। जब-जब उन्हें देखता हूँ, मेरा 'ज्ञानी' मस्तक आप-से-आप उनके चरणों में झुक जाता है। लेकिन, मेरे मन में सबसे बड़ी चोट लगती है तब, जब देखता हूँ, इस नर-रत्न की कद्र कहाँ तक होगी! बहुत से लोग इन्हें सुधुआ समझकर ठगने की चेष्टा करते हैं। यदि यही बात होती तो भी बरदाश्त की जा सकती, लेकिन यही नहीं, इन्हें जब-तब झंझटों में डालने की कोशिश होती है। और यदि अकस्मात् झंझट में पड़ जाते हैं तो उससे निकलने की क्या बात, इनके तड़पने का तमाशा देखने में लोग मजा अनुभव करते हैं।

अभी थोड़े दिनों की बात है। एक दिन सरजू भैया मेरे सामने आकर खड़े हुए। मैं कुछ पढ़ रहा था। सिर नीचा किए ही कहा, बैठिए भैया! किंतु भैया बैठेंगे क्या, उनकी तो घिग्घी बँधी है और आँखों से आँसू आ रहे हैं। दुबारा कहने पर भी जब नहीं बैठे तो उनकी ओर नजर उठाई। उनका चेहरा देख दंग रह गया। मैं सन्न! क्या बात है यह? बहुत आश्वासन और आग्रह पर उनकी जीभ हिली। मालूम हुआ, उनके घर में एक छोटी सी घटना हो गई है, जैसी घटनाएँ अपने ही गाँव में मैंने कई बार होते देखी हैं। लेकिन किसी ने उस ओर ध्यान नहीं दिया, यदि जरूरत हुई तो उन्हें सुलझा दिया और यदि किसी ने उसे बढ़ाना चाहा तो लोगों ने उसको डाँट दिया। क्यों? क्योंकि वे घटनाएँ ऐसे घरों में हुई थीं, जिनके पास न सिर्फ लक्ष्मी बल्कि दुर्गा भी है। पैसे भी और लाठी भी। लेकिन सरजू भैया ने तो लोगों के लिए ही अपनी यह हालत कर रखी है। न वह किसी पर धन का धौंस जमा सकते हैं, न डंडे फटकार सकते हैं। फिर, क्यों न उन्हें तड़पाया जाए, रुलाया जाए? मैंने उन्हें आश्वासन दिया, उन्हें धैर्य हुआ, वह चले गए। लेकिन रात भर लोगों की इस कृतघ्नता ने मुझे चैन से सोने न दिया।

सुधुआपन से ठगे जाने की एक कहानी। बहुत दिन हुए, मैं किसी जरूरत में था और कुछ रुपए के लिए परेशान था। सरजू भैया के पास कुछ रुपए थे। मेरी बेचैनी वह कैसे देखते?वह रुपए ले आए। मैंने खर्च कर दिया, लेकिन आज तक दे नहीं सका। रुपए तो आए, लेकिन एक आया दो का खर्च लेकर। सरजू भैया माँगने का हाल क्या जानें? मैं भी समझता रहा, उनके रुपए कहाँ जाते हैं! जरूरत होगी, माँगेंगे, दे दूँगा। लेकिन अभी

उस दिन जो बात उन्होंने सुनाई, मैं हक्का-बक्का रह गया।

इस बीच में उन्हें रुपए की जरूरत हुई, लेकिन संकोचवश मुझसे नहीं माँगा। एक सूदखोर महाजन के पास गए, जो पहले उन्हीं से कर्ज खाता था, लेकिन तरह-तरह के कारनामों से अब धन्नासेठ बन चुका है। उसने झट उन्हें रुपए दे दिए; लेकिन जब चलने लगे, कहा, 'आपके पास रुपए जाएँगे कहाँ, लेकिन कोई सबूत तो चाहिए ही।' क्या सबूत? मैं तैयार हूँ। सरजू भैया रुपए बाँध चुके थे, न उन्हें खोलकर लौटाया जा सकता था और न वह उसकी माँग को नामंजूर कर सकते थे। 'नहीं, कुछ नहीं, कागज पर सिर्फ निशान बना दीजिए, आपसे बाजाब्ता हैंडनोट क्या कराया जाए?' और सरजू भैया ने बमभोला की तरह कजरौटे में अँगूठा बोरकर कागज पर चिपका दिया। मानो, किसी आधुनिक अंटोनियो ने किसी कलजुगी शाइलॉक के हाथ में अपने को गिरवी कर दिया!

अब वह कहता है—'जल्द रुपए दे दो, नहीं तो मैं नालिश कर दूँगा—और नालिश कितने की करेगा, कौन ठिकाना'—सरजू भैया बेचारगी में बोल रहे थे और मैं उनका मुँह आश्चर्य से देख रहा था। 'आपने ऐसी गलती क्यों कर दी?' लेकिन, इसके अलावा इसका जवाब वह क्या दे सकते थे कि 'क्या करूँ, रुपए बाँध चुका था।'

सरजू भैया के पाँच संतानें हुईं, लेकिन बेटियाँ-ही-बेटियाँ। उनकी धर्मपत्नी, जो लंबाई में ठीक उनके विपरीत, बहुत ही बौनी होने पर भी गुणों में उनकी ही तरह थीं, हाल ही में बेटा पाने का अरमान लिये मरी हैं। कह नहीं सकता, इस अरमान ने सरजू भैया को ज्यादा चिंतित किया है या नहीं! वे बेटियों पर ही स्नेह रखते हैं और मेरे घर में जो लड़के मेरे बेटे-भतीजे हैं, उनका बचपन तो ज्यादातर उन्हीं के कंधों पर कटा है। लेकिन, बेटियाँ तो अपनी-अपनी ससुराल जा बसेंगी। क्या सरजू भैया का यह पुश्तैनी घर खँडहर बनेगा? क्या सरजू भैया की कोई निशानी हमारे पड़ोस को गुलजार न कर सकेगी?यह कल्पना करते ही हमारे परिवार भर में अजीब उदासी छा जाती है। उनकी पत्नी की मृत्यु के बाद मैंने अपनी मौसी को कहते सुना—'सरजू बबुआ की उमिर ही कितनी है?यही, मेरे बबुआ से चार बरस बड़े हैं, फिर वह शादी क्यों न करें? क्या वंश डुबो देंगे?' और, उस दिन देखा, मेरी ढीठ रानी सरजू भैया से झगड़ रही है—'नहीं, आपको शादी करनी ही पड़ेगी।'

'मैं शादी करूँ, जिससे शर्माजी को (मुझे) नई भौजाई से दिन-रात चुहलें करने का मजा मिले, क्यों न?'

मुझे देखते सरजू भैया बोले और ठठाकर हँस पड़े। रानी थोड़ी सकुची, फिर हँस पड़ी। मैं दोनों को देखता, चुपचाप मुसकुराता रहा।

❑

मंगर

हट्टा-कट्टा शरीर, कमर में भगवा, कंधे पर हल, हाथ में पैना, आगे-आगे बैल का जोड़ा। अपनी आवाज के हास से ही बैलों को भगाता, मेरे खेत की ओर सुबह-सुबह जाता—जब से मुझे होश है, मैंने मंगर को इसी रूप में देखा है, मुझे ऐसा लगता है।

हाँ, मुझे याद आता है, हल के बदले कभी-कभी मुझे भी उसके कंधे पर चढ़ने का सौभाग्य मिल चुका है। लेकिन, ऐसे मौके बहुत कम आए हैं। क्योंकि न जाने क्यों, मंगर को बच्चों से वह स्वाभाविक स्नेह नहीं, जो उसके जैसे लोगों में प्राय: देखा जाता है। उसे देखकर बच्चे भागते ही रहे हैं और आज जब मंगर अशक्य, जर्जर हो चुका है, बच्चे हैं, मानो इसका बदला चुकाने को अपनी छोटी छड़ियों से उसे छेड़कर भागते हैं और जब वह झल्लाता, उन्हें मारने के लिए अपनी बुढ़ापे की लकुटिया खोजता या खीझकर गालियाँ बकने लगता है तो वे खिलखिला पड़ते और मुँह चिढ़ाने लगते हैं।

बच्चों से उसकी वितृष्णा क्यों हुई? शायद इसलिए तो नहीं कि उसे जो एक ही बच्चा नसीब हुआ, वह कमाऊ पूत बनने के पहले ही उसे दगा देकर चल बसा! और जो उसकी एक बच्ची थी, सो लूली; और जिसकी शादी में उसने इतनी दरियादिली दिखलाई, लेकिन एक बार मुसीबत काटने उसके दरवाजे वह पहुँचा तो दामाद ने ऐसी बेरुखी दिखलाई कि मंगर का स्वाभिमान उसे वहाँ से जबरदस्ती भगा लाया।

मंगर का स्वाभिमान—गरीबों में भी स्वाभिमान? लेकिन, मंगर की खूबी यह भी रही है। मंगर ने किसी की बात कभी बरदाश्त नहीं की और शायद अपने से बड़ा किसी को मन से माना भी नहीं। मंगर मेरे बाबा का अदब करता था, शायद उनके बुढ़ापे के कारण! सुना है, मेरे बाबूजी को वह बहुत चाहता था। शायद, उनके नेक स्वभाव के कारण! किंतु मेरे चाचाओं को तो उसने हमेशा अपनी बराबरी का ही समझा, और मुझे तो वह कल तक 'तू' ही कहकर पुकारता रहा है। किसकी मजाल, जो मंगर को बदजुबान कहे—हलवाहों को मिलनेवाले नित दिन की गालियाँ तो दूर की बात!

ऐसा क्यों? उसका खास कारण मंगर का यह हट्टा-कट्टा शरीर और उससे भी अधिक उसका सख्त कमाऊपन, जिसमें ईमानदारी ने चार चाँद लगा दिए थे। जितनी देर में लोगों का हल दस कट्ठा खेत जोतता, मंगर पंद्रह कट्ठा जोत लेता और वह भी ऐसा महीन जोतता कि पहली चास में ही सिराऊ मिलना मुश्किल। मंगर को यह बताने की जरूरत नहीं कि कल किस खेत में हल जाएगा। वह शाम को ही सारे खेतों की आर-आर घूम आता और जिसकी ताक होती, वहाँ हल लिये सुबह-सुबह पहुँच जाता। जुताई के वक्त किसी की देख-रेख की भी जरूरत नहीं। आम हलवाहों के पीछे किसान जो लट्ठा लेकर पड़े रहते हैं, और तो भी वे जी चुराते, ढिलाई करते, आज का काम कल के लिए छोड़ते, यह आदत मंगर में थी ही नहीं। यों ही रखवाली चाहे हरी फसल की हो या सूखी पसही की, खलिहान में चाहे बोझों की सील हों या अनाज की रास—मंगर पर सब छोड़कर निश्चिंत सोया जा सकता था।

दूसरा ऐसा 'जन' मिलेगा कहाँ?फिर क्यों न उसकी कद्र की जाए? मेरे बाबा कहते थे—मंगर हलवाहा नहीं है, सवाँग है। वह अपने सवाँग की तरह ही कभी-कभी रूठ जाता था और जब-तब लोगों को झिड़क भी देता था। उसकी झिड़क सबके सिर-आँखों पर; उसका रूठना और उसकी मनौती होती।

कभी-कभी बातें कुछ बढ़ भी जातीं। एक दिन काफी कहा-सुनी हो गई। दूसरी सुबह मंगर हल लेने नहीं आया। इधर से बुलाहट भी नहीं गई। रुपए हैं, तब हलवाहे न होंगे! कोई नया हलवाहा लेकर जोता गया। उधर कोई दूसरा किसान आकर मंगर से बोला—मंगरू, देख, उन्होंने दूसरा हलवाह कर लिया है। उन्हें रुपए हैं, हजार हलवाहे मिलेंगे, तो तेरे भी शरीर है, हजार गृहस्थ मिलेंगे। चल, हमारा हल जोत, तू जो कहेगा, मजदूरी दूँगा। लेकिन मेरा सिर जो दर्द कर रहा है। मंगर ने इसका जवाब दिया और उसका यह सिर दर्द तब तक बना

रहा, जब तक झख मारकर मेरे चाचाजी फिर उसे बुलाने नहीं गए। क्योंकि चार दिनों में ही मालूम हो गया, मंगर क्या है! बैलों के कंधे छिल गए, उनके पैर में फार लग गए। खेत में हल तो चला, लेकिन न ढेला हुआ, न मिट्टी मिली। फिर खेत की आर पर बैठे दिन भर हलवाहे को टुकारी देते रहिए, तब कहीं दस कट्ठा जमीन जुते! मंगर के बिना काम चल नहीं सकता।

चाचाजी उसके दरवाजे पर खड़े हैं। मंगर भीतर घर में बैठा है। मंगर की अद्‌र्धांगिनी भकोलिया ने कहा, 'मालिक खड़े हैं, जाओ, मान जाओ।'—'कह दे , मेरा सिर दर्द हो रहा है।' मंगर ने चाचाजी को सुनाकर कहा। 'मालिक जरा इनके सिर पर मालकिन से तेल दिला दीजिएगा।' भकोलिया हँसती हुई बोली, 'तू मुझसे दिल्लगी करती है।' मंगर के स्वर में नाराजी थी। 'मंगर, चलो, आपस में कभी कुछ हो ही जाता है, माफ करो।' चाचाजी के स्वर में आरजू-मिन्नत थी। 'जाइए, उसी से जुतवाइए, जिससे चार दिन जुतवाया है। मुझे ले जाकर क्या होगा! आधी रोटी की बचत भी तो होती होगी।' यों ही नोंक-झोंक, मान-मनौवल! फिर मंगर अपना हलवाही का पैना हाथ में लिये आगे-आगे और चाचाजी पीछे-पीछे।

यह आधी रोटी की बचत क्या?इसे समझा आपने? इसे मंगर का खास इजारा समझिए। जहाँ गाँव भर में हलवाहे को एक रोटी मिलती, मंगर के लिए डेढ़ रोटी जाती। वह भी रोटी सुअन्न की हो और अच्छी पकी हो। उस पर कोई तरकारी भी जरूर हो; क्योंकि मंगर किसी का कच्चा नमक नहीं खाता! मंगर की सभी शर्तें पूरी होतीं।

लेकिन यह डेढ़ रोटी वह खुद खाता, ऐसा आप नहीं समझें। क्या अपनी अद्‌र्धांगिनी के लिए लाता?नहीं, आधी के दो टुकड़े कर दोनों बैलों को खिला देता। यों, यह आधी रोटी फिर मेरे ही घर आती, लेकिन इसमें कोई काट-कपट हो नहीं सकती थी। महादेव मुँह ताकें और मैं खाऊँ, यह कैसे होगा? मंगर के लिए ये बैल नहीं, साक्षात् महादेव थे।

एकाध बार बात बहुत बढ़ गई तो मंगर मेरा गाँव छोड़कर चला गया। लेकिन, गाँव में रहते उसने दूसरे का परिहथ नहीं पकड़ा। दूसरे गाँव में भी वह जम नहीं सका। तब तीसरा गाँव देखा, और अंत में मारा-मारा फिर मेरे गाँव लौटा। शायद मेरे घर जैसा कद्रदाँ उसे कहीं नहीं मिला।

मंगर का स्वभाव रूखा रहा है; किसी से लल्लो-चप्पो नहीं, लाई-लपटाई नहीं। दो-टूक बातें, चौ-टूक व्यवहार! तो भी न जाने क्यों, मंगर मुझे शुरू से ही स्नेह की नजर से देखता रहा है। शायद इसीलिए कि मेरे बाबूजी उसे बहुत मानते थे। अब भी कहता है—'मालिक, ये हमारे मँझले बाबू, वह मरे, मेरी तकदीर फूटी।' और, शायद इसलिए भी कि मैं बचपन से ही टूअर हूँ। माँ मर गई, पिताजी चल बसे। तभी तो उसने अपना पवित्र कंधा मुझे दिया; और जब कुछ बड़ा हुआ, मैं ननिहाल जाने-आने और रहने लगा तो याद आता है, मंगर ही मुझे वहाँ पहुँचाता। मैं एक छँठी घोड़ी पर सवार, मंगर सिर पर सौगात की चीजें और मेरी किताबें लिये, घोड़ी की लगाम पकड़े आगे-आगे। जहाँ नीच-ऊँच जमीन होती, कहीं मैं घोड़ी से गिर न जाऊँ, बगल में आकर एक हाथ से मुझे पकड़ भी लेता। उसके बलिष्ठ हाथों के उस कोमल स्पर्श का अनुभव आज भी कर रहा हूँ।

ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, घर से मेरा संबंध टूटता गया। बकौल मंगर, मैं तो अपने ही घर का मेहमान बन गया। लेकिन, जब-जब दो-चार दिनों के लिए घर जाता, मंगर को उसी रूप और उसी पेशे में देखा करता।

कपड़ों से मंगर को वहशत रही है। हमेशा कमर में भगवा ही लपेटे रहता। उसे धोतियाँ मिली हैं। गोवर्धन-पूजा के दिन, हर साल, एक नई धोती लिये बिना वह बैल के सींगों में लटकन बाँधता क्या! यों भी बाबा और चाचा साल में जब-तब पुरानी धोतियाँ दिया करते। घर में शादी-ब्याह होने पर उसे लाल धोतियाँ भी मिली हैं। मेरी शादी में मंगर के लिए नया कुरता भी बना था। लेकिन धोतियाँ हमेशा उसके सिर का ही शृंगार रहीं, जिन्हें वह मुरेठे की तरह लपेटे रहता और कुरता, जब मेरी किसी कुटमैती में वह संदेश लेकर जाता, तभी उसकी देह

ढँकता। यों, साधारणत: वह हमेशा नंग-धड़ंग रहता—और मैं कहूँ, मुझे उसका शरीर उस रूप में बहुत ही अच्छा लगता। आज एक कलाकार की दृष्टि से कहता हूँ, मंगर को खूबसूरत शरीर मिला था।

काला-कलूटा, फिर भी खूबसूरत! सौंदर्य को रंगसाजी और नक्काशी का मजमूआ समझनेवालों की रुचि मैं समझ नहीं पाता, यह कहने की गुस्ताखी के लिए आज भी मैं माफी माँगने को तैयार नहीं। मंगर का वह काला-कलूटा शरीर, एक संपूर्ण सुविकसित मानव-पुतले का उत्कृष्ट नमूना! लगातार की मेहनत ने उसकी मांस-पेशियों को स्वाभाविक ढंग पर उभार रखा था। पहलवानों की तरह उनमें अस्वाभाविक उभार नहीं आई थी। जाँघें, छाती, भुजाएँ—सब में जहाँ जितनी, जैसी गढ़न और उभार चाहिए, बस उतनी ही। न कहीं मांस का लोंदा, न कहीं सूखी काठ! एक सुडौल शरीर पर स्वाभाविक ढंग से रखा एक साधारण सिर। मंगर के शरीर का खयाल आते ही मुझे प्राकृतिक व्यायाम के हिमायती मिस्टर मूलर की आकृति का स्मरण हो जाता है। सैंडो के शैदाई उससे कुछ निराश हों तो आश्चर्य नहीं।

लेकिन, आज न वह देवी रही, न वह कड़ाइ रहा। मंगर वह नहीं रहा, जो कभी था। गरीबी को वह अपने अक्खड़पन से हमेशा धता बताए रहा। लेकिन उम्र के प्रहारों से वह अपने को बचा नहीं सका। उसकी एक-एक चोट उसे धीरे-धीरे जर्जर बनाती रही और आज उस पर यह कहावत लागू है—'सूखी हाड़ ठाठ भई भारी, अब का लदबद हे व्यापारी।'

उसके शरीर का मांस और मांसपेशियाँ ही नहीं गल गई हैं, उसकी हड्डियाँ तक सूख गई हैं। आज का उसका यह शरीर उस पुराने शरीर का व्यंग्यचित्र मात्र रह गया है। बुढ़ापे के प्रहारों के लिए जो ढाल का काम करती, उस चीज का संग्रह मंगर ने कभी किया ही नहीं। 'आज खाय औ कल को झक्खे, ताको गोरख संग न रक्खे।' का उपासक यह मंगर संग्रह का तो दुश्मन रहा। कोई संतान भी नहीं रही, जो बुढ़ापे में उसकी लाठी बनती। उम्र ने इस निरस्त्र, कवचहीन योद्धा पर वे सभी तीर छोड़े, जो उसके तरकश में थे। मंगर बुढ़ापे के कारण हल चलाने के योग्य नहीं रह गया तो कुछ दिनों तक उससे कुछ फुटकर काम लिये गए; लेकिन यह भी ज्यादा दिनों तक नहीं चल सका। अब एक ही उपाय रह गया, उसे पेंशन मिले। लेकिन हलवाहों—यथार्थ अन्नदाताओं—के लिए पेंशन की हमारे अभागे देश में कहाँ व्यवस्था है? और व्यक्तिगत दया का दायरा तो हमेशा ही तंग रहा है; फिर मंगर में जली हुई रस्सी की वह ऐंठन और शायद गरमी भी है, जिससे दया का बादल हमेशा ही उससे दूर-दूर भागता रहा है। दया का बादल चाहता है आशीर्वचनों की शीतल सतह—और मंगर के शब्दकोश में उसका सर्वथा अभाव ही समझिए। इसके बदले आज भी वही बेलौस बातें, झड़प-झिड़कियों की आँच, जो पानी की क्या बात, खून को भी सुखा दे। इसके बावजूद, उदारता की स्वाति बूँदें कभी-कभी टपकतीं; किंतु, पपीहे की प्यास उससे भले ही बुझे, मंगर के बुढ़ापे की मरुभूमि उससे सींची नहीं जा सकती। यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि आज हम मंगर की हड्डियों का यह झाँझर भी नहीं पाते, अगर उसकी अर्द्धांगिनी नहीं होती।

उसकी अर्द्धांगिनी—भकोलिया! मंगर की आदर्श जोड़ी! वही जमुनिया रंग—'काली' कहकर मैं उसका अपमान क्यों करूँ ! दो ही बच्चे हुए, इसलिए स्त्रीत्व के उस महान् क्षय से बहुत कुछ वह बची रही, जो मातृत्व का सुंदर नाम पाता है। यही कारण है, मंगर जर्जर-झर्झर हो गया, लेकिन भकोलिया अभी चलती-फिरती है, कुछ हाथ-पाँव चलाकर संगर कर लेती और दोनों प्राणियों का गुजर चला पाती है। लेकिन, यह भी कब तक? क्योंकि वह बेचारी भी दिन-दिन छीजती जाती है।

भकोलिया—मंगर की आदर्श जोड़ी। शारीरिक ढाँचे में ही नहीं, स्वभाव में भी। वे भी दिन थे, जब वह तमककर बोलती, झपटकर चलती। न किसी को जल्द मुँह लगाती और न किसी की हेठी बरदाश्त करती। जिस किसी ने छेड़ा, मानो काली साँपिन के फन पर पैर रखा। लेकिन भकोलिया में सिर्फ फुँफकार मात्र थी—दंशन और विष का आरोप उसके साथ महान् अन्याय होगा।

पर मर्दों की अपेक्षा औरतें अपने को परिस्थिति के साँचे में ज्यादा और जल्द ढाल सकती हैं, इसका उदाहरण यह भकोलिया है। मंगर आज भी है। मुँह का बेलौस या फूहड़ कहिए, लेकिन भकोलिया वही नहीं रही। किसी का बच्चा खेला दिया, किसी का कुटान-पिसान कर दिया, किसी का गोबर पाथ दिया, किसी का पानी भर दिया और जो कुछ मिला, उसमें पहले मंगर को खिलाकर, आप पीछे खाने बैठी। किंतु इतना करने पर भी वह हमेशा मंगर की फटकार सुना करती है। मंगर अपना सारा पित्त और पुरानी झड़प अब ज्यादातर इसी पर झाड़ता है।

'भगवान् की मरजी!' कहकर मंगर जिसके नाम पर अपनी मुसीबतों को बिसर जाने का प्रयत्न करता रहा, उस भगवान् ने पारसाल उसकी और दुर्गति कर दी। उसे जोरों से अधकपारी उठी। भकोलिया उसकी चिल्लाहट से पसीज किसी दया की मूर्ति से दारचीनी माँग लाई और उसे बकरी के दूध में पीसकर उसका लेप उसके ललाट पर कर दिया। 'बाईं पुटपुटी पर और आँख पर भी लगा दे।' मंगर ने लेप की पहली ठंडाई अनुभव कर कहा। भकोलिया हुक्म बजा लाई। लेकिन, यह क्या? जहाँ-जहाँ लेप था, वहाँ अजीब जलन शुरू हुई। जलन जख्म में बदली और जख्म ने उसकी एक आँख ले ली। जब मैं घर गया—'बबुआजी, मेरी एक आँख चली गई। मैं काना हो गया!' कहकर मंगर रोने लगा। शायद मंगर को मैंने यही पहली बार रोते देखा। मैं उसे ढाँढ़स दे रहा था, लेकिन मेरा हृदय...

और विपदा अकेली कब रही?

पिछले माघ में मैं घर पहुँचा। सुबह धूप निकल आई थी। लेकिन अपने चिर अभ्यास के अनुसार मैं आँखें मूँदे रजाई से लिपटा पड़ा था। थोड़ी-थोड़ी देर पर कुछ गिरने की-सी धम-धम की आवाज होती। रजाई मुँह से हटाकर आँखें खोलीं। देखा, सामने पुआल के टाल के नजदीक एक काला-सा अस्थि-पंजर बार-बार खड़ा होने की कोशिश करता और गिरता है। यह क्या? चौंककर उठा। उस ओर बढ़ा। यह तो मंगर को अद्‌र्धांग मार गया है! देखा, आँखें सजल हो उठीं। निकट गया, उसे सँभाला। फिर कहा, 'मंगर, पड़े क्यों नहीं रहते?यह कैसी चोट लग रही होगी?'

'पड़े-पड़े मन ऊब जाता है, बबुआ!' मंगर ने जवाब दिया।

उफ्, नसें ढीली पड़ गईं, खून का सोता सूख गया। लेकिन, मानो अब भी उसमें तरंगें उठतीं और किसी सूखे सागर की तरह बालू के तट पर सिर धुन, पछाड़ खा गिर-गिर पड़ती हैं! कैसा करुण दृश्य!

❑

रूपा की आजी

कुछ दिन चढ़े, मैं स्कूल से आकर आँगन में पालथी मारे चिउरा-दही का कौर पर-कौर निगल रहा था कि अकस्मात् मामी ने मेरी थाली उठा ली। उसे घर में ले आईं। पीछे-पीछे मैं अवाक् उनके साथ लगा था। थाली रख मुझसे बोली, ''बस, यहीं खा, बाहर मत निकलना। रूपा की आजी आ रही हैं, नजर लगा देंगी। समझेन?''

मैं समझता क्या खाक! हाँ, रूपा की आजी से कौन नहीं डरता?कौन बच्चा उनकी बड़ी-बड़ी आँखें देखकर न सिहर उठता? वह डायन हैं—गाँव भर में यह बात प्रसिद्ध है। वह जिसको चाहे, जादू की एक फूँक में मार सकती हैं। बच्चों पर उनकी खास नजरें इनायत रहती हैं। कितने बच्चों को, हँसते-खेलते शिशुओं को उनकी ये बड़ी-बड़ी आँखें निगल चुकी हैं।

बड़ी-बड़ी आँखें!

रूपा की आजी की यह है सूरत-शक्ल—लंबी-गोरी औरत, भरा-पूरा बदन। हमेशा साफ-सुफेद बगाबग कपड़ा पहने रहतीं। उस सुफेद कपड़े के घेरे से उनका चेहरा रोब बरसाता। फिर, उनकी बड़ी-बड़ी आँखें, जिन पर लाली की एक हलकी छाया! पूरे बदन का ढाँचा मर्दों के जैसा, मानो धोखे से औरत हो गई हों। जिस गाँव से वह आई हैं, वहाँ लोग कहते हैं, औरतों का ही राज है। लोगों ने मना किया उनके ससुर को, वहाँ बेटे की शादी मत कीजिए। किंतु, वह भी पूरे अखाड़िया थे। जिद कर गए, देखें, कैसी होती है वहाँ की लड़की!

रूपा की आजी ब्याह के आईं। आने के थोड़े ही दिनों बाद ससुरजी चल बसे। कुछ दिनों के बाद रूपा के दादाजी भी। इन दोनों की मौत अजीब हुई। ससुरजी दोपहर में खेत से आए, रूपा की आजी ने थाली परोसकर उनके सामने रखी। दो कौर खा पाए थे कि पेट में खोंचा मारा, दर्द हुआ, खाना छोड़कर उठ गए। शाम होते-होते उसी दर्द से चल बसे। रूपा के दादाजी एक बरात से लौटे, थके-माँदे! नवोढ़ा पत्नी—रूपा की आजी—ने हँसकर एक गिलास पानी पीने को दिया। पानी पीते ही सिर घमका, ज्वर आया, उसी ज्वर से तीन दिनों के अंदर स्वर्ग सिधारे!

पहली घटना से ही कानाफूसी शुरू हो गई थी, दूसरी घटना ने बिलकुल सिद्ध कर दिया—रूपा की आजी डायन हैं। दोनों को जादू के जोर से खा गई हैं।

रूपा के पिताजी का जन्म उसके तीन-चार महीने बाद हुआ। रूपा की आजी की गोद भरी। आखिर इस डायन ने अपना खानदान बचा लिया—लोगों ने कहना शुरू किया। बेटे को इस डायन ने बड़े नाज से पाला-पोसा, बड़ा किया और उसकी शादी की धूमधाम से। किंतु, कैसी है यह चुड़ैल? शादी का बरस लगते-लगते बेटे को भी खा गई! मूँछ-उठान जवान बेटे को! कितना सुंदर, गठीला जवान था वह! कुश्ती खेलकर आया, इसके हाथ से दूध पीया। खून के दस्त होने लगे। कुछ ही घंटों में चल बसा। उसके मरने के बाद इस 'रूपा' का जन्म हुआ और रूपा अभी प्रसूतिगृह में ही कें-कें कर रही थी कि उसकी माँ चल बसी! बाप रे, रूपा की आजी कैसी बड़ी डायन हैं! डायन पहले अपने ही घर को स्वाहा करती है!

जवान बेटे की मृत्यु के बाद रूपा की आजी में अजीब परिवर्तन हुआ। आँखें हमेशा लाल रहतीं, छोटी-छोटी बातों से भी आँसू की धारा बह निकलती, होंठों-होंठों कुछ बुदबुदाती रहतीं; दोनों जून स्नान कर भगवती का पिंड लीपतीं, धूप देतीं, बहुत साफ कपड़ा पहनतीं, जिस जवान को देखतीं तो देखतीं ही रह जातीं। जिस बच्चे पर नजर डालतीं, मानो आँखों में पी जाएँगी! लोगों ने शोर किया—अब इसका डायनपन बिलकुल प्रकट हो गया! डरो, भागो! रूपा की आजी से बचो!

रूपा की आजी से बचो—लेकिन, बचोगे कैसे? भर दिन रूपा को गोद लिये, कंधे चढ़ाए या उसकी छोटी उँगलियाँ पकड़े यह इस गली से उस गली, इस घर से उस घर आती-जाती ही रहती हैं। न एक व्रत छोड़ती हैं,

न एक तीरथ। और हर व्रत और तीरथ के बाद गाँव भर का चक्कर! उत्सवों में बिना बुलाए ही हाजिर! उफ, यह डायन कब मरेगी?कब गाँव को इससे निजात मिलेगी?

मन-ही-मन यह मनाया जाता; किंतु ज्यों ही रूपा की आजी सामने आईं नहीं कि उनकी खुशामदें होतीं। कहीं वह नाराज न हो जाएँ; अपने ससुर, पति, बेटे और पतोहू को खाते जिसे देर न लगी, वह दूसरे के बाल-बच्चों पर क्यों तरस खाएगी? स्त्रियाँ उन्हें देखते काँप उठतीं, किंतु ज्यों ही वह उनके सामने आईं कि 'दादीजी' कहकर उनका आदर-सत्कार करना शुरू किया। इस आसन पर बैठिए, जरा हुक्का पी लीजिए, सुपारी खा लीजिए, यह सौगात आई है, जरा चख लीजिए आदि-आदि। रूपा की आजी कुछ सत्कार स्वीकार करतीं, कुछ अस्वीकार। उनकी अस्वीकृति आग्रह नहीं मानती थी। अस्वीकृति! और लोगों में थरथरी लग गई। फिर, परिवार ही ठहरा; अगर बरस-छह महीने में किसी को कुछ हुआ तो रूपा की आजी के सिर पर दोष गिरा!

कितने ओझे बुलाए गए इस डायन को सर करने के लिए। उनके बड़े-बड़े दावे थे—डायन मेरे सामने होते ही नंगी नाचने लगेगी; डायन के कोंचे से आप-ही-आप आग जल उठेगी, डायन खून उगलने लगेगी! डायन पागल होकर आप-ही-आप बकने लगेगी! ओझा आए, तांत्रिक आए; टोने हुए, तंतर हुए। तेली के मसान की लकड़ी, बेमौसम के ओड़हुल के फूल, उलटी सरसों का तेल, मेढक की खाल, बाघ के दाँत—क्या-क्या न इकट्ठे किए गए! ढोल बजे, झाँझ बजी, गीत हुए, देव आए, भूत आए, देवीजी आईं! किंतु रूपा की आजी न पागल हुईं, न नंगी नाचीं, न उनकी देह पर फफोले उठे। ओझा गए, तांत्रिक गए, कहते हुए—'उफ, यह बड़ी घाघ है! बिना कारुकमच्छा गए इसका जादू हटाया नहीं जा सकता।' कई ओझे इसके लिए रुपए भी ऐंठते गए; किंतु, रूपा की आजी जस-की-तस रहीं।

❑

मैं बड़ा हुआ, लिखा-पढ़ा, नए ज्ञान ने भूत-प्रेत पर से विश्वास हटाया, जादू-टोने पर से आस्था हटाई। मैंने कहना शुरू किया—यह गलत बात है, रूपा की आजी पर झूठी तोहमत लगाई जाती है। बेचारी के घर में एक के बाद एक आकस्मिक मृत्यु हुई, उसका दिमाग ठीक नहीं। आँखों की लाली या पानी डायनपन की नहीं, उसकी करुणाजनक स्थिति की निशानी है। बच्चों को देखकर, दुलारकर, जवानों को घूर-घूरकर वह अपने जवान बच्चे को याद करती या उसे भूलने की कोशिश करती है। पूजा-पाठ सब उसी की प्रतिक्रिया है। दुनिया में भूत जैसी कोई चीज नहीं, जादू-टोना सब गलत चीज! लेकिन, मेरी बात कौन सुनता है? एक दिन मौसी मेरी इस बक-झक से व्याकुल होकर बोली, ''हाँ, तुम्हें क्या, तुम्हारे लिए जरूर जादू-टोना गलत है। भगवान् तुम्हें चिरंजीवी करें। किंतु, उनसे पूछो, जिनकी कोख इस डायन ने सूनी कर दी; जिनके बच्चों को यह जिंदा चबा गई, जिनके हँसते-खेलते घर को इसने मसान बना दिया!''

कहते-कहते उनकी आँखें भर आईं। कुछ गरम-गरम बूँदें आँखों से निकलकर जमीन पर ढुलक रहीं। फिर बोलीं, ''उस पड़ोसिन की बात है। उसकी बेटी ससुराल से लौटी थी, गोद भरकर! एक दिन उसका छह वर्ष का नाती आँगन में किलक रहा था। कितना सुंदर था वह बच्चा! जैसे विधाता ने अपने हाथों सँवारा हो! जो देखता, मोह जाता। कई दिन मेरे घर आया था। जबरदस्ती मेरे कंधे पर चढ़ गया, दही माँगकर खाया। तुतली-तुतली बोली, चिकने-चिकने दुधमुँहे दाँत! हँसता तो इँजोरिया हो जाती। किलकिलाता तो हरसिंगार झड़ने लगते। और वैसे बच्चे को...

''हाँ, एक दिन वह बच्चा अपने आँगन में था कि यह भूतनी पहुँची। यह भूतनी—हाँ, इसी तरह आँसू बहाती, होंठ हिलाती, रूपा का हाथ पकड़े हुई। इसे देखते ही उसकी माँ का मुँह सूख गया। नानी डर गईं। चाहा, बच्चे को छिपा दें! किंतु वह बच्चा छिपाने लायक भी तो नहीं था! ऊधमी, नटखट, झटपट दौड़ा आया, इस चुड़ैल के कंधे पर चढ़ गया। चढ़कर इसके बालों को नोचने, गरदन को हिलाने और अपने छोटे-छोटे पैरों से इसे एँड़ियाने लगा। बच्चे की इस हरकत से भूतनी हँस पड़ी। पहली बार लोगों ने इसे हँसते देखा। फिर खुद घोड़ा बनी, बच्चे

को सवार बनाया और बहुत देर तक घुड़दौड़ करती, बच्चे को हँसाती-खेलाती रही। बार-बार उसे छाती से लगाती, कहती, 'ऐसा बच्चा दूसरा न देखा। आह मेरा...'; किंतु, बात बीच ही में काटकर फूट-फूटकर रो पड़ी। उसे रोते देख बच्चे ने ही गुदगुदी लगाकर, रिझाकर, भुलाकर उसे चुप कराया। चुड़ैल घर चली गई आशीर्वाद देती हुई—'जुग-जुग जीए यह बच्चा, तुम्हारी गोद हमेशा भरी रहे बेटी, भरी रहे। इसी तरह सोने की मूरत उगलती रहे।' उसकी माँ भौचक! नानी के जैसे जी में जी आया।

''किंतु, जानते हो, इसके बाद क्या हुआ?'' मामी कहे जा रही थीं, ''कुछ ही दिनों के बाद लड़के को सूखा रोग लग गया। कहाँ उसका वह रूप, वह रंग, वह चुहल, वह हँसी! सूखकर काँटा हो गया। दिन-रात चें-चें किए रहता। जो उसे देखते, आँसू बहाते और एक दिन आँसुओं की बाढ़ लाकर वह...उफ!

''उस दिन उसकी माँ को तुम देखते। पागल हो गई थी बेचारी!बच्चे की लाश को पकड़े थी, छोड़ती नहीं थी। किसकी हिम्मत, जो उससे बच्चा माँगे? आँसू सूखकर ज्वाला बन गए थे। उसकी आँखों से चिनगारी निकल रही थी। बच्चे को छाती से चिपकाए थी, जैसे वह दूध-पीता बच्चा हो! अंट-संट बोलती, बच्चे के मुँह में छाती देने की कोशिश करती। उसे चुप देख कभी-कभी चिल्ला उठती। जब चिल्लाती, मालूम होता, उसका कलेजा फट रहा है। सुननेवालों के भी कलेजे फटते...''

मैं देख रहा था, मामी का कलेजा आज भी फटा जा रहा है। किस्से का अंत शब्दों से नहीं, आँसुओं के ज्वार से हुआ।

और, मामी के बच्चे को भी तो इसी ने खाया। वह बोलती नहीं हैं, किंतु उनके करुण चेहरे की एक-एक भाव-भंगिमा, आँसू की एक-एक बूँद यह कह रही है। कमबख्त को बच्चे खाकर भी संतोष नहीं हुआ, मामी की कोख में जैसे इसने राख भर दी। तब से एक बेटा न हुआ, बहुत जंत्र-तंत्र के बाद हुई तो दो बेटियाँ!

मामी की क्या बात, एक दिन मामाजी भी मेरे उपर्युक्त तर्कों पर नाराज हुए और अपनी आँखों से देखी घटना सुनाई—''वह ऊँची जगह देखते हो न! वहाँ एक दुसाध आ बसा था। बूढ़ा था, दो नौजवान लड़के थे उसके! घर में बीवी, पतोहुएँ। दोनों बेटे बड़े ही कमाऊ पूत। गठीले जवान। बूढ़ा भी काफी हुनरमंद। थोड़े ही दिनों में गाँव में उनकी पूछ हो गई। बाहु का बल था। कमाते, खाते। नेक स्वभाव के। न किसी से झगड़ा, न झमेला! सबको खुश रखने की कोशिश करते, सबके काम आते।

''एक दिन वह बुढिया—तुम्हारी रूपा की आजी, पहुँची और बोली—जरा आज मेरा काम कर दो। बूढ़े ने देखते ही सलाम किया, बैठने को कुश की चटाई रख दी। बुढिया नहीं बैठी, दुसाध से हड्डी छुला जाती है, फिर, मैं बामनी! बूढ़ा न बोला, सिर्फ अर्ज किया—आज तो दूसरे बाबू को वचन दे चुका हूँ, कल आपका काम हो जाएगा। बुढिया ने जिद की—नहीं, आज ही मेरा काम होना चाहिए। बीच ही में बड़ा लड़का बोल उठा, 'दुसाध से हड्डी छुलाती है तो क्या घर नहीं छुलाएगा?' बुढिया तमक उठी—'तुम मेरा अपमान करते हो? इसलिए न कि मैं निपूती हूँ, मुझसे तुम्हें क्या डर! मेरा लड़का होता...।' बुढिया पहले गरजी, अब बरस रही थी। बूढ़ा दुसाध भौचक! हाथ जोड़कर आरजू-मिन्नत करता रहा—'अभी चलता हूँ, हम अभी चलते हैं। बाबू का काम कल होगा, आज आप ही का।' किंतु, बुढिया वहाँ जरा भी क्यों ठहरती? घर लौटी।

''इसी रास्ते वह जा रही थी।'' मामाजी ने कहा, ''मैंने देखा, उसके होंठ जल्द-जल्द हिल रहे थे, आँखें लाल थीं, आँचल से आँसू पोंछती जाती, पीछे-पीछे बूढ़ा दौड़ा जा रहा था। बूढ़े को रोककर मैंने दरियाफ्त किया, उसने सारी बातें बताईं। वह काँप रहा था। 'बाबू, बाल-बच्चेवाला हूँ, न जाने क्या हो जाए!'

''और, विश्वास करोगे, तुम्हारी अँगरेजी विद्या इसके क्या माने बताएगी कि उस रात में बूढ़े के बड़े बेटे को साँप ने काट लिया।

''भोर में देखा, हाय, वह पट्ठा बेहोश पड़ा है! समूचा शरीर पीला पड़ गया है, मुँह से झाग निकल रहा है। गाँव-गाँव से साँप का विष उतारनेवाले पहुँचे हैं। कोई जोर-जोर से मंत्र पढ़ रहा है, कोई कोड़े फटकार रहा है,

कोई जड़ी पीसकर पिलाने की कोशिश में है, कोई उसकी नाक में कुछ सुँघा रहा है। जब-तब वह आँखें खोलता है, रह-रहकर हाथ-पैर फटकारता है, फिर निस्तब्ध हो जाता है। निस्तब्धता निस्पंदता में और निस्पंदता निर्जीवता में बदलती जाती है। बूढ़ा बाप छाती पीट रहा है, छोटा भाई दहाड़ मारकर रो रहा है। माँ और स्त्री की गत का क्या कहना! विष उतारनेवाले कहते हैं—'हम क्या करें? साँप का विष उतरता है न, यह तो आदमी का विष है! सीधा जादू, ठीक आधी रात को लगाया गया है, उतर जाए तो भाग!' बूढ़े का वैसा भाग्य नहीं था। धीरे-धीरे हम लोगों के देखते-देखते उसके जवान बेटे की अरथी उठ रही थी! दूसरे ही दिन उसका सारा परिवार गाँव छोड़कर चला गया।

''अरे, यह बुढिया नहीं, काल है! आदमी नहीं, साँपिन है। चलती-फिरती चुड़ैल! बामनी है, नहीं तो इसे जिंदा गाड़ देने में कोई पाप नहीं लगता।''

मामा की आँखें अब अँगारे उगल रही थीं। मैं चुप था। भावना पर दलील का क्या असर हो सकता है भला!

❑

शिवरात्रि का यह मेला! लोगों की अपार भीड़—बच्चे, जवान, बूढ़े, लड़कियाँ, युवतियाँ, बुढियाँ। शिवजी पर पानी, अक्षत, बेलपत्र, फूल, फल। फिर एक ही दिन के लिए लगे इस मेले में घूम-फिर, खरीद-फरोख्त। धक्के-पर-धक्के। चलने की जरूरत नहीं, अपने को भीड़ में डाल दीजिए, आप-ही-आप किसी छोर पर लग जाइएगा। बच्चों और स्त्रियों की अधिकता! उन्हीं के लायक ज्यादा सौदे। खँजड़ी, पिपही, झुनझुने, मिट्टी की मूरतें, रबर के खिलौने, कपड़े के गुड्डे, रंगीन मिठाइयाँ, बिस्कुट, लेमनचूस। टिकुली, सिंदूर, चूडियाँ, रेशम के लच्छे, नकली नोट, चकमक के पत्ते, आईना, कंघी, साबुन, सस्ते एसेंस और रंगीन पाउडर। भाव-साव की छूट, हल्ला-गुल्ला। गहनों के झमझम में चूडियों की झनझन। साड़ियों के सरसर में हँसी की खिलखिल।

कहीं नाच हो रहा, कहीं बहुरूपिए स्वाँग दिखा रहे, कहीं घिरनी और चरखी पर बच्चे झूले का मजा लूट रहे।

अकस्मात् एक ओर से शोर—''पगली पगली पगली!''"'छोड़ो, छोड़ो, छोड़ो!'"'डायन, डायन, डायन!'"'मारो, मारो, मारो!''

एक औरत भागी जा रही है—अधनंगी, अधमरी! लोग उसका पीछा कर रहे हैं। बात क्या है?

मेले में आई एक युवती अपने बच्चे को एक सखी के सुपुर्द कर सौदा करने गई थी। सखी सीधे-सरल स्वभाव की थी। बच्चे चंचल होते ही हैं। सखी 'लाल छड़ी' की रंगीन मिठाई बेचनेवाले की बोली पर भूल गई —'मेरी लाल छड़ी अलबत्ता, मैं तो बेचूँगा कलकत्ता, मैं तो बेचूँगा कलकत्ता!' इधर बच्चा उसकी अँगुली छोड़कर, धीरे से वहाँ से निकलकर झुनझुनेवाले के पास पहुँच गया। जब सखी का ध्यान लाल छड़ी से टूटा तो वह व्याकुल होकर बच्चे को खोजने निकली। देखती क्या है, एक बुढिया उस बच्चे को गोद में लिये झुनझुने दे रही है और मिठाइयाँ खिला रही है। कैसी उसकी सूरत—फटा-चिटा कपड़ा, धूल से भरा शरीर, बिखरे बाल, लाल-लाल आँखें, बड़ी-बड़ी टाँग, बड़ी-बड़ी बाँह। उसे देखते ही वह चीख पड़ी—डायन! बुढिया चौंकी, गुर्राई —ऐं, क्या बोलती है? किंतु वह तो चिल्लाए जा रही थी। डायन! डायन! हल्ला देख बच्चा चीखने लगा। बुढिया ने बच्चे को कंधे पर लिया। वह बुढिया के नजदीक पहुँचकर बच्चे को उससे छीनने की कोशिश करने लगी। एक हल्ला, एक शोर, एक गौगा! अब बच्चा सखी की गोद में और बुढिया को लोग पीट रहे हैं। बच्चा बार-बार उसकी ओर देखकर 'बुदिया', 'बुदिया' कह उठता है, मानो उसकी मार पर तरस खाता हो, उसकी गोद को ललक रहा हो! किंतु कौन उस पर ध्यान देता है?

बुढिया भागी जा रही है, स्त्रियाँ- बच्चे-मर्द उसके पीछे लगे हैं। थोड़ी-थोड़ी देर पर वह रुकती है, दाँत दिखाती है, हाथ जोड़ती है, कभी-कभी गुस्सा होकर ढेले उठाती है। वह सिर्फ ढेले उठाती है, लोग उस पर ढेले फेंकते हैं। इसी भागा-भागी में वह एक जगह पहुँचती है, जहाँ पहले एक कुआँ था। अब उसकी गत खराब हो गई थी, वह भठ रहा था। भागने में व्याकुल उसका ध्यान उस ओर न रहा, धड़ाम से उस कुएँ में जा गिरी।

भीड़ रुकती है। कोई कहता है—मरने दो! कोई कहता है—निकालो। जब तक निर्दयता पर करुणा की विजय हो, तब तक वह जल-समाधि ले चुकती है।

यह उसकी लाश है?किसकी लाश है? बुढिया की लाश—रूपा की आजी की लाश!

रूपा की आजी की लाश! वह यहाँ कहाँ?

रूपा की शादी बड़ी धूम से की उसने—सारी जायदाद बेचकर। जिस भोर में रूपा की पालकी ससुराल चली, उसी शाम को वह घर छोड़कर चल दी। कहाँ? कौन जाने! इतने दिनों तक वह कहाँ-कहाँ की धूल छानती आज पहुँची थी इस मेले में। क्यों?क्या रूपा को देखने?उसके बच्चे को देखने?क्या वह रूपा का बच्चा था? उसने परिचय क्यों न दिया?

छोड़िए उस चर्चा को।

❑

बहुत दिन हुए, रवि बाबू की एक कहानी पढ़ी थी। एक भद्र परिवार की महिला हैजे से मर गई। लोग जलाने को श्मशान ले गए। चिता सजाई जा रही थी कि वर्षा होने लगी। चिता छोड़कर लोग बगल की अमराई की मँड़ैया में छिपे रहे। काली रात थी। जब वर्षा खतम हुई, उन्होंने पाया, चिता से मुरदा गायब! क्या सियार खा गए?खोज-ढूँढ़ फिजूल गई। किंतु किस तरह बाबू साहब से कहा जाएगा कि उनकी असावधानी से मुरदा गायब हुआ? झूठ-मूठ चिता में आग लगाकर चले आए। इधर बेचारी महिला पानी की बूँद से जीवन पा चिता से उठी। दिन भर खेतों में छिपी रही। भद्रकुल की महिला थी। रात में जब घर पहुँची, दरवाजा खटखटाया। उसकी बोली सुन लोग दौड़े—अरे, भूत,भूत! नैहर पहुँची, वहाँ भी भूत, भूत! बहन के घर पहुँची, वहाँ भी भूत, भूत! जहाँ जाए, वहीं भूत, भूत! आखिर उसने अपने को गंगाजी की गोद में सुपुर्द कर दिया।

क्या 'रूपा की आजी' भी कुछ इसी तरह लोकापवाद की शिकार नहीं हुई? घटनाओं ने उसके साथ साजिशें कीं, लोगों ने जल्लाद का काम!

❑